मास्टर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत)

Master of Arts (Sanskrit)

द्वितीय सेमेस्टर - एम0 ए0 एस0 एल - 507

भारतीय दर्शन

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम समिति

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफे0 ब्रजेश कुमार पाण्डेय,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफे0 रमाकान्त पाण्डेय,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान जयपुर परिसर,
राजस्थान

प्रोफे0 कौस्तुभानन्द पाण्डेय,
संस्कृत विभाग, अल्मोड़ा परिसर,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो0 एच0 पी0 शुक्ल- संयोजक,
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 देवेश कुमार मिश्र,
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असिस्टेन्ट प्रोफेसर-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम सम्पादन एवं संयोजन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असिस्टेन्ट प्रोफेसर-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	**इकाई संख्या**
डॉ0 लालाशंकर गयावाल भरतपुर राजस्थान	**खण्ड 1 (इकाई 1 से 3)**
डॉ0 योगेन्द्र कुमार नेशनल पी.जी.कालेज बड़हलगंज, गोरखपुर	**खण्ड 2 (इकाई 1 से 5)**
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र सहायक आचार्य,संस्कृत विभाग उ0मु0वि0वि 0, हल्द्वानी	**खण्ड 3 (इकाई 1 से 5)**
डॉ0 पंकज मिश्र राजधानी कालेज,राजा गार्डेन,दिल्ली	**खण्ड 4 (इकाई 1 से 6)**
डॉ0 माया शुक्ला एम.बी.पी.जी;कालेज, हल्द्वानी	**खण्ड 5 (इकाई 1 से 5)**

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय **प्रकाशन वर्ष :** 2021
पुस्तक का शीर्षक - भारतीय दर्शन MASL-507
प्रकाशक: (उ 0 मु 0 वि 0 वि 0) -263139 **ISBN NO: 978-93-84632-23-6**
मुद्रक:

अनुक्रम

खण्ड 4 - जैन एवं चार्वाक पृष्ठ संख्या 1- 4

इकाई 1- जैनमत का इतिहास **5-18**

इकाई 2- जैन दर्शन का सिद्धान्त भाग - 1 **19-33**

इकाई 3- जैन दर्शन का सिद्धान्त भाग - 2 **34-49**

इकाई 4- चार्वाक दर्शन का परिचय एवं सिद्धान्त **50-64**

इकाई 5- चार्वाकीय सिद्वान्तों की अन्य भारतीय दर्शनों में आंशिक उपस्थिति **65-76**

इकाई 6- चार्वाक दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक व सांसारिक जीवन से सम्बन्ध **78-88**

खण्ड 5 - न्याय दर्शन पृष्ठ संख्या 89

इकाई 1 - न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास **90-105**

इकाई 2 - तर्क भाषा, प्रमेयों के नाम, प्रमाण कारण एवं उनका स्वरूप **106-123**

इकाई 3- प्रत्यक्ष प्रमाण एवं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष **124-138**

इकाई 4 - तर्क भाषा, अनुमान प्रमाण,व्याप्ति एवं उसके भेदों की मीमांसा **139-155**

इकाई 5 - प्रमेय पदार्थ निरूपण, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, हेत्वाभास **156-175**

द्वितीय सत्रार्द्ध / SEMESTER- II
खण्ड 4 - जैन एवं चार्वाक

इकाई 1- जैनमत का इतिहास

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 जैन मत का परिचय
    1.3.1 प्रारम्भिक इतिहास
    1.3.2 श्वेताम्बर
    1.3.3 दिगम्बर
1.4 जैन साहित्य एवं उनके काल
    1.4.1 आगम काल
    1.4.2 अनेकान्त स्थापनकाल
    1.4.3 प्रमाण व्यवस्थाकाल
    1.4.4 नवीन न्यायकाल
1.5 जैन दार्शनिक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
    1.5.1 श्वेताम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
    1.5.2 दिगम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
    1.5.3 कुछ प्रसिद्ध दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना:-

भारतीय दर्शन के तृतीय खण्ड की इस प्रथम इकाई में आपकी आवश्यकता को ध्यान में रखकर जैनमत का इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है। इस क्रम में यथासम्भव प्रयास किया गया है कि अपेक्षित सारी सूचनाए प्रस्तुत की जाए। एतदर्थ उनके काल का विभाजन, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार, दार्शनिक आदि का सम्यक् विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आशा है आप इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम इस पाठ के विचारणीय बिन्दु यहाँ दिये जा रहे हैं।

1.2 उद्देश्य:-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- बता सकेंगे कि परम्परा प्रचलित विचारधारा के विरोधी जैन दर्शन की प्राचीन परम्परा क्या रही है ?
- समझ सकेंगे कि सामान्यतया जैन दर्शन के काल का निर्धारण किस प्रकार किया गया है तथा ये काल व्यवस्था किन किन महत्वपूर्ण विषयों को लक्ष्य बनाती हैं ?
- यह भी जानकारी मिल पाएगी कि जैन विचारधारा के प्रधान ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कौन हैं तथा जैन दर्शन को उनका योगदान क्या है ?

1.3 जैन मत का परिचय:-

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन, जो सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध प्रभृति नामों से अभिहित हुआ, विभिन्न वैचारिक क्रान्ति की परिणति है। उनमें से प्रत्येक की मौलिक विचारधारा है। यही विचारधारा इन्हें पारस्परिक चिन्तन से पृथक् करता है। जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। वस्तुतः जैन दर्शन चिन्तन अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण न केवल अशेष भारत प्रत्युत समग्र विश्व में प्रसार को प्राप्त हुआ। भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है। चार्वाक और बौद्ध दर्शन के साथ ही, भारतीय विचारधारा की नास्तिक परम्परा में परिगणित यह तृतीय दार्शनिक सम्प्रदाय है जिन्होंने वैदिक कर्मकाएड का प्रबल विरोध किया। जैन दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। ई0 पू0 छठी शताब्दी में वैदिक धर्म और यज्ञ यागादि के प्रतिक्रियास्वरूप दो धार्मिक क्रान्तियों का सूत्रपात हुआ जिनका नेतृत्व गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने किया। बौद्ध दार्शनिक चिन्तन की ही भाँति जैन दार्शनिक प्रणाली भी मूलतः एक धार्मिक विश्वास

से सम्बद्ध है। जैन मत का मुख्य उद्देश्य अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना है। दर्शन चिन्तन में यह अनेकान्त सापेक्षतावादी बहुत्ववाद के रूप में प्रसिद्ध हुआ ।

1.3.1 प्रारम्भिक इतिहास:-

महावीरस्वामी भारतीय दर्शन की जैन परम्परा के सूत्रधार हैं। उल्लेखनीय है कि महावीर स्वामी जैन धर्म दर्शन के प्रवर्तक नहीं थे। वे इस दर्शन की परम्परा में आने वाले चौबीसवें तीर्थंकर थे। इस धर्म के तीर्थंकरों में प्रथम नाम ऋषभदेव का प्राप्त होता है तथा तेईसवॉ नाम पार्श्वनाथ का। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का कालनिर्धारण कठिन है। यह कहना भी कठिन है कि प्रारम्भिक बाईस तीर्थंकर का काल क्या रहा होगा। किन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ निस्सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे तथा वे आठवीं या नवीं शताब्दी ई0पूर्व में हुए थे। इन्होंने ही पंच महाव्रत में एक अपरिग्रह के मूलभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। बाद में भगवान् महावीर ने इसमें ब्रह्मचर्य को जोड़ा। अन्तिम व चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर छठी शताब्दी ई0पू0 में हुए थे तथा ये बुद्ध के समकालीन थे।

जैन दर्शन अथ वा धर्म में प्राप्त होने वाले 'जैन' शब्द का उöव 'जिन' शब्द से हुआ है। जो अपने को अर्थात् अपनी इन्द्रियों को जीतता है, अपने वश में कर लेता है, अथ वा संयमित कर लेता है, वह 'जिन' है। जिन कोई ईश्वरीय अवतार नहीं है प्रत्युत जिसने अरिषड्वर्ग अर्थात् काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह, माया आदि को सम्पूर्ण रूप में जीत लिया हो वही जिन कहलाता है। इसी 'जिन' के अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। जिन शब्द सामान्यतः महावीर के लिये प्रयुक्त होता है, जो इस धर्म के महत्तम प्रवक्ता थे। ध्यातव्य है कि जैन धर्मशास्त्र के इतिहास में महावीरस्वामी को कई नामों से जाना जाता है। ये नाम उनके व्यवहार व आचरण को परिभाषित करने के लिये विकसित हुए। बौद्ध निकाय में उन्हें 'निगण्ठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) कहा गया है। रागद्वेषादि विजय के कारण महावीर और वीतराग हैं। इस प्रकार जैन दर्शन जिन तीर्थंकरों के द्वारा प्रवर्तित दर्शन है। इनके अनुसार ये तीर्थंकर ही अर्हत् हैं। इसलिये ये अर्हत् इनके ईश्वर माने जाते हैं। अन्यत्र उल्लेख भी प्राप्त होता है कि—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवाऽर्हन् परमेष्वरः।।

इसी आधार पर जैन को आर्हत तथा जैन दर्शन को आर्हत दर्शन भी कहा जाता है। अन्य भारतीय दर्शन की तरह ही जैन दर्शन चिन्तन की समृद्ध परम्परा रही है। इसके प्रवर्तक ऋषभदेव थे जिन्हें वैदिक काल का माना जाता है। किन्तु इस चिन्तन को सर्वथा दार्शनिक रूप प्रदान करने वाले भगवान् महावीर थे। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त जैनधर्म एवं दर्शन का

पूर्ण विकास हुआ है। जो लोग जैन दर्शन को सर्वप्राचीन नहीं मानते उन्हें कम से कम इसे उतना तो मानना ही होगा जितना प्राचीन अन्य भारतीय दर्शन है।

महावीर स्वामी के अनन्तर कई आचार्य हुए हैं जिन्होंने जैन दर्शन को नूतन दृष्टि दी है। उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि, अनन्तवीर्य, यशोविजय वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेणादि आचार्यों ने इस मत के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

जैनदर्शन में दो सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा माना जाता है कि यह विभाजन ईसा की पहली शताब्दी में ही हो गया था। ये दोनों सम्प्रदाय हैं- श्वेताम्बर और दिगम्बर। यद्यपि जैनमत में कतिपय बिन्दुओं का प्रारम्भ से ही विवाद था, किन्तु महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद भद्रबाहु तथा स्थूलभद्र के मध्य विवाद के कारण ही जैन धर्म दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाये तथा स्थूलभद्र के अनुयायी श्वेताम्बर।

1.3.2 श्वेताम्बर:-

यहाँ श्वेताम्बर का अर्थ है श्वेत वस्त्रधारी तथा दिगम्बर का अर्थ है निर्वस्त्र अथ वा आकाश को ही वस्त्र मानने वाला। इन दोनों सम्प्रदायों का अन्तर मताग्रह का उतना नहीं था जितना आनुष्ठानिक क्रियाकलापों का। दूसरे शब्दों में, जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों में विवाद दार्शनिक सिद्धान्तों पर कम नैतिक सिद्धान्तों पर अधिक था। जहाँ तक आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, उनमें सामान्यतः सहमति है।

1.3.3 दिगम्बर:–

दिगम्बर आचरण पालन में अधिक कठोर थे, श्वेताम्बर कुछ उदार थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मूल आगम ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं, 'केवल ज्ञान' प्राप्त करने पर सिद्ध पुरुष को भोजन की आवश्यकता नहीं होती, जो साधु अपने पास कुछ भी सम्पत्ति, जिसमें वस्त्र धारण भी आ जाता है, रखते हैं, उन्हें मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता एवं स्त्रियाँ मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं। ये महावीर को भी नग्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस मत के अनुयायी महावीर को अविवाहित तथा आजन्म ब्रह्मचारी मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं। इनके अपने आगम ग्रन्थ हैं तथा ये महावीर को विवाहित मानते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन धर्म दर्शन के प्रवर्तक थे।

(क) महावीर स्वामी (ख) पार्श्वनाथ

(ग) ऋषभदेव (घ) भगवान् बुद्ध

2. जैन दर्शन में जिन का अर्थ है।

(घ) जीवन को जीतने वाला (ख) महावीर को जीतने वाला

(ग) प्राण को जीतने वाला (घ) इन्द्रिय को जीतने वाला

3. स्थूलभद्र के अनुयायी क्या कहलाये-

(क) श्वेताम्बर (ख) महावीर

(ग) दिगम्बर (घ) जैन

4. स्त्रियॉं मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं, ऐसा मानना है-

(क) श्वेताम्बर का (ख) महावीर का

(ग) दिगम्बर का (घ) स्थूलभद्र

5. महावीर को 'निगण्ठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) कहा गया है।

(क) आगम में (ख) बौद्ध निकाय में

(ग) तत्वार्थसूत्र में (घ) भगवती सूत्र में

1.4 जैन साहित्य एवं उनके काल:-

जैन साहित्य के अनुसार आरंभ में दो ही प्रकार के पवित्र ग्रन्थ थे- चौदह पूर्व तथा ग्यारह अंग। इनमें से प्रथम प्रकार के सभी ग्रन्थ अंततः विलुप्त हो गये। अंग जो बचे रहे वे ही जैनधर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनको भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले ही प्रामाणिक मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय वालों की मान्यता है कि ये भी नष्ट हो गये थे और उनके नाम से जो अब चलते हैं, वे मिथ्या हैं। अस्तु, जैन दर्शन के समग्र प्राप्त साहित्य को ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से चार कालों में विभक्त किया जा सकता है -

(1) आगम काल (वि. छठी शताब्दी तक)

(2) अनेकान्त स्थापनकाल (वि. तीसरी से आठवीं तक)

(3) प्रमाण व्यवस्थाकाल (आठवीं से सत्रहवीं तक)

(4) नवीन न्यायकाल (अठारहवीं से अद्यपर्यन्त)

ध्यातव्य है कि पूर्वकाल में उत्तरकाल के विचार बीज वर्तमान है तथा पल्लवन की दृष्टि से उक्त काल को यहाँ समझा जाना चाहिए।

1.4.1. आगम काल:–

इस युग के अन्तर्गत जैन दर्शन के दोनों सम्प्रदायों के आगम साहित्य आते हैं। जैन साहित्य दो भागों में विभक्त है- आगम एवं आगमेतर। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है ऐसा माना जाता है कि आगमों की विषय वस्तु चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की वाणी है वस्तुतः ये आगम ग्रन्थ जैन परम्परा में वेद की तरह ही मान्य है। ये आगम साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर दृष्टि से पृथक् पृथक् हैं। श्वेताम्बर के अनुसार साधारणतः पैंतालिस ग्रन्थ हैं। इनमें दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में भगवती सूत्र, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायांग, अनुयोगद्वार आदि हैं। आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ आचारांग, दशवैकालिक, उपासकदशा, आवश्यक आदि हैं। इन आगम ग्रन्थों पर कई टीकाएँ लिखी गयी हैं। दिगम्बरों के अनुसार प्रमुख आगम ग्रन्थ षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, समयसार, नियमसार आदि हैं। इनमें ज्ञान, कर्म आदि का अत्यन्त गम्भीरता से विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः जैनदर्शन के मुख्य स्तम्भों के न केवल बीज ही अपि तु विवेचन भी इन आगमों से ही मिलते हैं।

1.4.2. अनेकान्त स्थापनकाल:–

यह काल जैन दार्शनिक विचारधारा की प्रारम्भिक शृंखला है। इसी काल में नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ। इस काल के प्रसिद्ध व प्रमुख दार्शनिक हैं सिद्धसेन दिवाकर एवं समन्तभद्र। इस काल के अन्य दार्शनिकों मल्लवादी, सिंहगणि, पात्रकेसरी, श्रीदत्त आदि उल्लेख्य हैं। इस काल में सैद्धान्तिक एवं आगमिक परिभाषाओं तथा शब्दों की दार्शनिक विवेचन का महान् कार्य हुआ। साथ ही, सिद्धसेन दिवाकर एवं समन्तभद्र ने परमत के प्रहार से बचाने के लिये तथा अपने वाद को और अधिक दृढ़ करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ किया। सिद्धसेन के सन्मतितर्क एवं न्यायावतार में नय, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, प्रमाण, ज्ञान आदि की समुचित व्याख्या है। समन्तभद्र के ग्रन्थ आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि में भी जैन सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है।

1.4.3 प्रमाणशास्त्र व्यवस्था काल:-

यही वह काल है जिसमें जैन दार्शनिक विचारधारा का बीज वपन हुआ। इसी काल में तर्क, प्रमाण, प्रमेय आदि विषयों पर सविस्तर परिचर्चा हुई है। इस काल के प्रमुख दार्शनिक हरिभद्र, जिनभद्र एवं अकलंक है। इनमें हरिभद्र ने अनेकान्त, अकलंक ने प्रमाणशास्त्र तथा जिनभद्रगणि ने अनेकान्त एवं नय के विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने उस समय के प्रचलित सभी वादों का नय दृष्टि से जैनदर्शन में समन्वय किया तथा सभी वादियों में परस्पर विचार सहिष्णुता तथा समता लाने का प्रयत्न किया। अनेकान्तविजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय आदि इस काल के प्रमुख ग्रन्थ हैं। अन्य प्रमुख दार्शनिकों में विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं।

1.4.4. नवीन न्याय काल:–

न्याय दर्शन की ही भाँति जैन दर्शन परम्परा में नव्यन्याय की नूतन विधा का विस्तार देखा जा सकता है। इस काल में जैन दर्शन चिन्तन क्षेत्र में नूतन चिन्तन एवं नयी पद्धति से विचार विमर्श हुआ। इस काल के प्रमुख दार्शनिक यशोविजय हैं। उन्होंने नव्यन्याय की परिष्कृत शैली में उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्य ढंग से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया। इस काल के प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों में अष्टसाहस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, सप्तभंगतरंगिणी, नयोपदेश, भाषारहस्य आदि उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः न्याय दर्शन के द्वारा प्रवर्तित इस नूतन चिन्तन शैली को भी इस दर्शन ने उसी रूप में अपनाकर जैन की तर्कपरम्परा को अत्यन्त समृदध किया।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन धर्म के प्राप्त प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ हैं-

(क) पूर्व (ख) आगम

(ग) अंग (घ) सूत्र

2. साहित्य का प्राचीनतम भाग कहलाता है

(क) पूर्व (ख) अंग

(ग) सूत्र (घ) आगम

3. किस काल में नय, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ-

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

4. प्रमुख दार्शनिक यशोविजय किस काल में हुए

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

5. षड्दर्शनसमुच्चय की रचना किस काल में हुई?

(क) आगम काल (ख) प्रमाण व्यवस्थाकाल

(ग) अनेकान्त स्थापनकाल (घ) नवीन न्यायकाल

इन साहित्यों का कालानुसार संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1.5 जैन दार्शनिक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार:-

जैन दर्शन के सम्प्रदाय की तरह ही इसके ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का भी वर्गीकरण दो भागों में यहॉ किया जा रहा है।

1.5.1 श्वेताम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार:-

ग्रन्थकार	**काल**	**ग्रन्थ**
उमास्वाति	वि0 तीसरी शताब्दी	तत्त्वार्थसूत्र
सिद्धसेन दिवाकर	वि0 पॉचवीं शताब्दी	न्यायावतारद्वात्रिंशिकाएंसन्मतितर्कप्रकरण
मल्लवादि	वि0 छठी शताब्दी	नयचक्रसन्मतितर्कटीका
हरिभद्र	वि0आठवींशताब्दी	अनेकान्तवादप्रवेश षड्दर्शनसमुच्च यशास्त्रवार्तासमुच्चन्यायप्रवेशटीका धर्मसंग्रहणी
वादिदेवसूरि	वि0 बारहवीं शताब्दी	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार स्याद्वादरत्नाकर
हेमचन्द्र	वि0 बारहवीं शती	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका

रत्नप्रभसूरि	वि0 तेरहवीं शताब्दी	स्याद्वादरत्नावतारिका
देवप्रभ	वि0 तेरहवीं शताब्दी	प्रमाणप्रकाश
नरचन्द्रसूरि	वि0 तेरहवीं शताब्दी	न्यायकन्दलीटीका
मल्लिषेण	वि0 चौदहवीं शताब्दी	स्याद्वादमंजरी
गुणरत्न	वि0 पन्द्रहवीं शताब्दी	तर्करहस्यदीपिका
यशोविजय	वि0 सत्रहवीं शताब्दी	अष्टसहस्रीविवरण

1.5.2 दिगम्बर ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार:-

ग्रन्थकार	**काल**	**ग्रन्थ**
उमास्वाति	वि0 तीसरी शताब्दी	तत्त्वार्थसूत्र
समन्तभद्र	वि0 चौथी-पॉचवीं शताब्दी	आप्तमीमांसा
सिद्धसेन दिवाकर	वि0चौथी-पॉचवीं शताब्दी	द्वात्रिंशिकाएंसन्मतितर्कप्रकरण
देवनन्दि	वि0 चौथी-पॉचवीं शताब्दी	सारसंग्रह
श्रीदत्त	वि0 छठी शताब्दी	जल्पनिर्णय
सुमति	वि0 छठी शताब्दी	सन्मतितर्कटीका
		सुमतिसप्तक
अकलंकदेव	वि0 सातवीं शताब्दी	लघीयस्त्रयी
		न्यायविनिश्चय
		प्रमाणमीमांसा
		अष्टशती
		सिद्धविनिश्चय
		तत्वार्थराजवार्तिक
कुमारनन्दि	वि0 आठवीं शताब्दी	वादन्याय
अनन्तवीर्य	वि0 नवीं शताब्दी	सिद्धिविनिश्चयटीका
विद्यानन्दी		अष्टसाहस्री
		जैनश्लोकवार्तिक
आप्तपरीक्षा		
प्रमाणपरीक्षा		
पत्रपरीक्षा अनन्तकीर्ति	वि0 दसवीं शताब्दी	बृहत्सर्वज्ञसिद्धिलघुसर्वज्ञसिद्धि
देवसेन	990 वी0	आलापपद्धति

वसुनन्दि	वि0 10वीं-11वीं शताब्दी	आप्तमीमांसावृत्ति
माणिक्यनन्दि	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	परीक्षामुख
वादिराजसूरि	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	न्यायविनिश्चयविवरण
		प्रमाणनिर्णय
प्रभाचन्द्र	वि0 ग्यारहवीं शताब्दी	प्रमेयकमलमार्तण्ड
		न्यायकुमुदचन्द्र
अनन्तवीर्य	वि0 बारहवीं शताब्दी	प्रमेयरत्नमाला

1.5.3 कुछ प्रसिद्ध दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय:-

यद्यपि अग्रांकित आचार्यों का प्रसंगवश उल्लेख पूर्व में कई बार आ चुका है पुनरपि यहॉ उन प्रसिद्ध दार्शनिकों का क्रमशः उनका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

कुन्दकुन्दाचार्य:- ये जैन दर्शन के अति प्राचीन आचार्य थे। इनकी गणना साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों में होती है। मल्लिषेणप्रशस्ति में अंकित प्राचीन आचार्यों की नामावलि में इनका नाम सर्वप्रथम है। इस दृष्टि से इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी प्रतीत होता है। ये दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें नियमसार, पंचास्तिकायसार, समयसार तथा प्रवचनसार प्रमुख हैं। पुनरपि इनकी रचनाओं के विषय में परम्परागत कथन यह पाप्त होता है कि उन्होंने चौरासी पाहुड़ ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी सारी रचनाए प्राकृत में है। ये तत्त्वों की पूर्णरूपेण व्याख्या कर पाने में सक्षम हैं।

भद्रबाहु:- ये जैन दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थकार हैं। इनका समय निर्धारित नहीं है। इन्हें अनेक धर्मग्रन्थों का टीकाकार माना जाता है। इनमें से दशवैकालिकनिर्युक्ति नामक टीका में वे तर्कशास्त्र की कतिपय शाखाओं का विवेचन करते हैं। उन्होंने दस वाक्यों वाली न्यायिकी रचना की तथा उन्हें सुविख्यात जैनसिद्धान्त का मूल प्रवर्तक माना जाता है।

उमास्वाति:- ये मगध के देश के रहने वाले थे। कुछ विद्वान् उनका काल 135-219 ई0 मानते हैं तो कुछ अन्य 01-85 ई0। ये उमास्वाति तथा उमास्वामिन् दोनों नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र' अथ वा 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसे जैनियों का अत्यन्त पवित्र व धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है। संस्कृत भाषा में ग्रन्थों की रचना करने वाले प्रथम जैन विद्वान् थे। जैन दर्शन के व्यवस्थित प्रतिपादन का प्रमुख स्रोत उक्त ग्रन्थ को ही माना जाता है। उक्त रचना में लगभग तीन सौ पचास सूत्र हैं तथा यह दस अध्यायों में विभक्त है। इस पर अनेक जैन विद्वानों ने भाष्य लिखे हैं। जैन दर्शन की सभी परवर्ती व्याख्याएँ इसी पर आधारित हैं। यद्यपि यह मूलतः दर्शन का ग्रन्थ है तथापि प्राचीन भारतीय चिन्तन के इतिहास के सामान्य अध्ययन के लिये भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें मनोविज्ञान,

धर्ममीमांसा, खगोलशास्त्र, भौतिकी, रसायन एवं अन्य विषयों पर भी जैन दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

समन्तभद्र:- ये दक्षिण भारत के दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनाचार्य थे। ये उमास्वाति की उपरोक्त रचना के टीकाकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। ये जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य कहे जाते हैं। इनके सर्वाधिक प्रमुख ग्रन्थ हैं आप्तमीमांसा, तत्त्वानुसन्धान आदि। इनका समय विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी मान्य है। अनेकान्त के बीज को विकसित करने में इनकी प्रमुख भूमिका रही है। इनके समय में भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि अनेक एकान्तों का प्राबल्य था। समन्तभद्र ने इन समस्त एकान्तों का स्याद्वाद दृष्टि से समन्वय किया है। इनकी आप्तमीमांसा, जो कि परिचयात्मक है, में तार्किक सिद्धान्तों के विवेचन की भरमार है, साथ ही अद्वैतवाद सहित अन्य तत्कालीन दार्शनिक प्रणालियों की समीक्षा भी है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इसके उद्धरण दिये हैं।

सिद्धसेन दिवाकर:- लगभग पॉचवीं शताब्दी में अनेक जैन विद्वान् हुए जिन्होंने बड़ी रुचि एवं उत्साह के साथ स्वयं को तर्कशास्त्र के अध्ययन के लिये समर्पित किया। उन्हीं में से एक थे सिद्धसेन दिवाकर। ये उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के समकालीन थे। ये दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में प्रसिद्ध हुए। ये वस्तुतः जैन न्याय के आचार्य थे। इनके लिखे हुए इक्कीस ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनमें सन्मतितर्कप्रकरण अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह प्राकृत में लिखी गयी रचना है इसमें सामान्य दर्शन एवं तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है। इनकी एक अन्य रचना है न्यायावतार। इस ग्रन्थ से ही जैन तर्कशास्त्र की आधारशिला का निर्माण हुआ। यह संस्कृत में लिखी गयी बत्तीस पद्यों की एक लघु रचना है। इसके अतिरिक्त इनके कल्याणमन्दिरस्तोत्र तथा कुछ द्वात्रिंशिकाएं भी प्राप्त होती हैं।

सिद्धसेनगणि:- इस श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य का समय छठी शताब्दी मानी जाती है। ये तर्कशास्त्र के विकास करने वालों में अग्रणी थे। इन्होंने उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर एक उच्च कोटि की व्याख्या लिखी है। आचारांगसूत्रवृत्ति, न्यायावतार आदि इनकी अन्य कृतियॉ भी प्राप्त होती हैं।

अकलंकदेव:- कदाचित् जैन तर्कशास्त्रियों में सर्वाधिक प्रमुख व प्रतिभाशाली अकलंक ही थे, जो राष्ट्रकूट के राजा शुभतुंग के समकालीन थे। उनकी अनेक रचनाएं बतायी जाती हैं जिनमें अष्टशती, तत्त्वार्थवार्त्तिक तथा न्यायविनिश्चय जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सर्वाधिक प्रमुख हैं। न्यायशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा अकलंक से प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से ये जैनन्याय अथ वा जैन प्रमाणशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। उन्होंने बौद्धों की प्रखर आलोचना की। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण पद्धति को ही पल्लवित और पुष्पित करके जैनन्यायोद्यान को सुवासित किया है।

माणिक्यनन्दिन्:- ये दिगम्बर परम्परा के मान्य आचार्य थे। माणिक्यनन्दिन् का परीक्षामुख सूत्र जैन तर्कशास्त्र का मानक ग्रन्थ है जो अकलंक के न्यायविनिश्चय पर आधारित है। माणिक्यनन्दिन् के इस ग्रन्थ पर प्रभाचन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड लिखी। उनकी अन्य ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र है जो अकलंक के ग्रन्थ लघीयस्त्रय का भाष्य है।

वदिदेवसूरि:- इन्होंने स्वरचित सूत्र ग्रन्थ 'प्रमाणनयत्त्वालोकालंकार' पर अति विशाल भाष्य लिखा है जिसका नाम 'स्याद्वादरत्नाकर' है। इस एक ही ग्रन्थ को पढकर समस्त भारतीय दर्शन एवं समस्त न्याय पर अधिकार किया जा सकता है। जैन न्यायशास्त्र का कोई भी वाद इसमें छूट नहीं सका है।

हरिभद्र एवं हेमचन्द्राचार्य:- श्वेताम्बर सम्प्रदाय के दर्शनशास्त्रियों में हरिभद्र एवं हेमचन्द्र सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र विक्रम की आठवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे। उनकी रचनाओं में षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि इनकी प्रमुख हैं। हेमचन्द्र का जन्म धुंधक, अहमदाबाद में हुआ था तथा वे राजा जयसिंह के समकालीन थे। वे कदाचित् गुजरात के राजा कुमारपाल के भी गुरु थे। कवि एवं वैयाकरण के साथ-साथ वे एक प्रसिद्ध दार्शनिक भी थे। प्रमाणमीमांसा तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका इनकी अमर कृति है। प्रमाणमीमांसा एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इनमें पॉच अध्याय तथा दस आह्निक हैं। प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के भेद, प्रमाण का विषय, प्रमाण का प्रामाण्य, प्रमाण का फल- इनका इस ग्रन्थ में पूर्ण विवेचन किया गया है।

मल्लिषेण:- आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नाम से अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका पर एक अतिप्रसिद्ध व महत्त्वपूर्ण टीका लिखी। इसमें जैन दर्शन सम्मत स्याद्वाद सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। सिद्धान्त प्रवर्तन के क्रम में न्याय-वैशेषिक सम्मत पदार्थ सिद्धान्त का इसमें तार्किक खण्डन प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही अध्ययन की गम्भीरता तथा चिन्तन की सूक्ष्मता की दृष्टि से जैन दार्शनिक किसी भी अन्य दार्शनिकों से पीछे नहीं रहे हैं, इनके प्रौढ तर्क और अटूट युक्तियॉ उनके दार्शनिक सिद्धान्तों को आज तक सुरक्षित रख रही है। जैन दर्शन से सम्बद्ध विषयों को आधार बनाकर आज भी होने वाले कार्य इस बात का प्रमाण है कि इस दर्शन चिन्तन की जड़ें कितनी मजबूत हैं। भले ही यथास्थितिवादी इसे नास्तिक कहें किन्तु इस विचारधारा के चिन्तकों ने भारतीयता को अक्षुण्ण बनाये रखी।

1.6 सारांश:-

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की परम्परा वेदकाल से आजतक बिना किसी व्यवधान के चली आ रही है। यथाकाल प्रबुद्ध चिन्तकों व दार्शनिकों ने अपनी

प्रतिभा से इसे परिष्कृत व परिवर्धित किया। विभिन्न कालों व विचारधाराओं से गुजरते हुए इस दर्शन ने साहित्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास किया। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय तथा नय सिद्धान्त रूप वैचारिक देन ने दर्शन जगत् को चिन्तन की नयी व प्रामाणिक दिशा दी। ऐसे चिन्तकों का कालानुक्रम जानकर जैन दर्शन की विकास यात्रा को समझ पाना ही कदाचित् इस पाठ का समग्र है।आशा है इस इकाई के अध्ययन से आप जैनविषयक सहज व संक्षिप्त इतिहास को जानकर इस चिन्तन परम्परा में प्रवृत्त हो पाएंगे।

1.7 शब्दावली:-

अर्हत्- जैन दर्शन के अनुसार इनके तीर्थंकर अर्हत् कहलाते हैं। ये अर्हत् इनके ईश्वर माने जाते हैं। सर्वज्ञ सिद्ध पुरुषों को भी अर्हत् कहा जाता है।आगम- जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है। ऐसा माना जाता है कि आगमों की विषय वस्तु महावीर स्वामी की वाणी है। ये आगम ग्रन्थ जैन परम्परा में वेद की तरह ही मान्य है।

नव्य न्याय- नव्यन्याय दार्शनिक विषय को प्रस्तुत करने की एक नूतन व परिष्कृत शैली है जिसमें किसी भी विषय की परिभाषा व व्याख्या उसके पूर्ण तार्किक होने की स्थिति तक पहुॅचायी जाती है।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

1.3- 1. ग, 2. घ, 3. घ, 4. क, 5. ख

1.4- 1. ग, 2. घ, 3. ग, 4. घ, 5. ख

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,
2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ
5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)
6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा
7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5

8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न:-

(क) जैन दर्शन के प्रारम्भिक इतिहास पर एक निबन्ध लिखें।

(ख) श्वेताम्बर तथा दिगम्बर की विचारधारा में अन्तर को स्पष्ट करें।

(ग) जैन साहित्य के काल का सम्यक् विभाजन कर उनकी विशेषताओं को रेखांकित करें।

(घ) जैन न्यायशास्त्र में योगदान देने वाले किन्हीं पॉच आचार्यों पर टिप्पणी करें।

(ड) जैन न्यायशास्त्र की क्रमिक विकास यात्रा को समझाएं।-

इकाई 2- जैन दर्शन का सिद्धान्त

इकाई की रूपसेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 जैन ज्ञानमीमांसा
2.3.1 प्रत्यक्ष ज्ञान
2.3.2 परोक्ष ज्ञान
2.3.3 प्रमाण
2.3.4 नय सिद्धान्त
2.3.4.1 नय के भेद
2.4 स्याद्वाद
2.4.1 सप्तभंगीनय
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना:-

किसी भी दर्शन चिन्तन को उसकी अवधारणात्मक प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में बॉटा जा सकता है। ये हैं- ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा। जैन दर्शन चिनतन को भी समग्र रूप में जानने के लिये हमें इनका भी इसी प्रकार विश्लेषण करना चाहिए। अतः इस पाठ के अन्तर्गत, आपकी सुविधा के लिये जैन सिद्धान्त की समग्र व्याख्या पूर्वांकित विचार बिन्दु के अन्तर्गत किया जा रहा है। विषय विस्तार की दृष्टि से यहॉ केवल ज्ञानमीमांसा का विवेचन किया जा रहा है। तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा का विवेचन अग्रिम पाठ में किया जाएगा।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जैन ज्ञानमीमांसा के महत्व को समझा सकेंगे तथा अन्य दर्शनों के साथ इनकी स्थिति का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

2.2 उद्देश्य:-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप—

- बता सकेंगे कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा विषयक दृष्टि क्या है ?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगी नयादि व्यवस्था क्या है ?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन में जगत् की विविधता का निहितार्थ क्या है ?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा इस जगत् की अन्य विचारधारा के कितनी अनुरूप हैं ?

2.3 जैन ज्ञानमीमांसा:-

जैन दर्शन चेतना को जीव का स्वरूप धर्म मानता है। जीव अपनी शुद्धावस्था में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न होता है। यह इसका 'अनन्त चतुष्टय' कहलाता है। यह ज्ञान प्रकाश की तरह अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है और अपने को भी- ज्ञानं स्वपरभासि। अनन्तचतुष्टयात्मक जीव का कर्मपुद्गलों के कारण शुद्ध चैतन्यरूप भाव अदृश्य हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण संसार को आलोकित करता है किन्तु मेघादि द्वारा उत्पन्न व्यवधान के कारण संसार को आलोकित नहीं कर पाता, उसी प्रकार जीव अनन्तचतुष्टय से युक्त होने पर भी कर्मपुद्गलों के आवरण के कारण अपने पूर्ण ज्ञान को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। कर्मपुद्गलों का पूर्णक्षय हो जाने पर वह पुनः सर्वज्ञ हो जाता है और उसके पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। यहॉ ज्ञान के दो

भेद हैं- प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) और परोक्ष। जब ज्ञान माध्यमरहित होता है तो प्रत्यक्ष कहलाता है। जब यह माध्यमसहित होता है तो परोक्ष होता है।

2.3.1 प्रत्यक्ष ज्ञान:-

इसमें ज्ञान इन्द्रियों या मन के द्वारा सीधे ग्रहण किया जाता है जबकि अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान दूसरे ज्ञान के माध्यम से प्राप्त होता है, अतः वह परोक्ष है। माणिक्यनन्दी ने प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है- विशदं प्रत्यक्षम् अर्थात् स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है। स्पष्ट ज्ञान वह है जो अपरोक्ष हो तथा जिसमें विषय के सभी धर्मों का ज्ञान हो। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद किये जाते हैं- पारमार्थिक और सांव्यावहारिक।

1. पारमार्थिक प्रत्यक्ष- पारमार्थिक प्रत्यक्ष आत्मसापेक्ष ज्ञान है। इसे जीवात्मा स्वयं जानता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रिय, मन आदि की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः यह ज्ञान जीवात्मा के अवरोधक कर्मपुद्गलों के विनाश के बाद बिना किसी साधन के प्राप्त होता है। इसमें जीवात्मा का ज्ञेय वस्तुओं से साक्षात् सम्बन्ध होता है। इसकी प्राप्ति अंशतः या पूर्णतः कर्मबन्धनों के नष्ट होने पर होती है। जैन दर्शन में पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान के भी तीन भेद प्राप्त होते हैं- **अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान।**

(1) अवधि ज्ञान- देश और काल से परिच्छिन्न विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान, अवधि ज्ञान है। यह असाधारण दृष्टि द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान है। व्यक्ति के प्रयत्न से कर्मपुद्गलों के अंशतः क्षयोपशम होने पर प्राप्त असाधारण शक्ति से उत्पन्न दूरस्थ, सूक्ष्म एवं अस्पष्ट द्रव्यों का ज्ञान अवधि ज्ञान है। चूँकि यह ज्ञान देश और काल की परिधि में आने वाले पदार्थों का ज्ञान है अतः इसे अवधि ज्ञान कहते हैं।

(2) मनःपर्याय ज्ञान- यह अन्य व्यक्तियों के मन के भावों और विचारों का ज्ञान है। जब व्यक्ति रागद्वेषादि मानसिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अन्य व्यक्तियों के त्रैकालिक विचारों को जान लेता है तब इसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं।

(3) केवल ज्ञान- यह ज्ञान देश काल की सीमा से रहित सर्वज्ञता है। यह सभी पदार्थों एवं उनके परिवर्तनों का पूर्ण ज्ञान है। यह ज्ञान मुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है। इसमें आत्मा शुद्ध सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष - जीवात्मा को पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं मन की सहायता से प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि इस ज्ञान की उपलब्धि में साधनों की आवश्यकता होती है। साधनों के अभाव में इसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। यह ज्ञान कभी-कभी ज्ञानेन्द्रियों एवं मन, दोनों की सहायता से प्राप्त होता है

और कभी-कभी केवल मन की सहायता से। यह वह प्रत्यक्ष ज्ञान है जो हमें दैनिक जीवन में प्राप्त होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं-मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान।

(1) मति ज्ञान- यह वह ज्ञान है जो इन्द्रियों एवं मन का विषय से संयोग होने से प्राप्त होता है। इसमें बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान एवं आन्तरिक विषयों का मानस ज्ञान दोनों होता है।

(2) श्रुत ज्ञान- जैन तीर्थंकरों के उपदेशों एवं जैन आगमों से प्राप्त ज्ञान श्रुत ज्ञान है। यह शास्त्रनिबद्ध ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञानों में त्रुटि की सम्भावना रहती है, किन्तु मनः पर्याय एवं केवल ज्ञानों में त्रुटि की सम्भावना नहीं

2.3.2 परोक्ष ज्ञान:-

प्रायः जैनेतर भारतीय दर्शनों में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी जैन दर्शन भी इसे प्रत्यक्ष ज्ञान मानता है और उसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहता है। किन्तु जैन दर्शन के कतिपय आचार्य पारमार्थिक प्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रत्यक्ष कहते हैं जिसमें ज्ञाता बिना किसी साधन का आश्रय लिये ज्ञेय वस्तु का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वे आत्मसापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे उस ज्ञान को, जिसमें इन्द्रियों, मन आदि माध्यमों की आवश्यकता होती है, परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अर्थात्, इन्द्रियमनः सापेक्ष ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। 'प्रमाणनयतत्त्वालंकार' में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान में परस्पर भेद केवल स्पष्टता के अंश से ही है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान में केवल अपेक्षाकृत अन्तर है। परोक्ष अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष अपेक्षाकृत परोक्ष। इन्द्रियजन्य बाह्य एवं मानसिक विषयों का मति ज्ञान अनुमान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और पारमार्थिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा से परोक्ष है। परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत मति एवं श्रुत ज्ञान आते हैं श्रुत ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि वह मतिपूर्वक होता है। जैन दर्शन में इन दोनों ज्ञानों के अतिरिक्त स्मृति, प्रत्यभिक्षा, तर्क एवं अनुमान को भी परोक्ष ज्ञान माना जाता है।

2.3.3 प्रमाण:-

प्रमा का करण या ज्ञान का साधन प्रमाण कहलाता है। साधारणतया जैन दर्शन में तीन प्रमाण प्राप्त होते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दानि)।

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण- जैन दर्शन में वास्तविक प्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसकी प्राप्ति हेतु किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसमें विषय का सीधा प्रत्यक्ष होता है। जैन दर्शन में एक अन्य प्रत्यक्ष की भी चर्चा की गयी है। वह है, 'सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष'। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में चार अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है जो अधोलिखित हैं-

(क) अवग्रह- इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होने पर नाम, आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्यमात्र का ज्ञान अवग्रह है। जैसे, नेत्र का पुष्प से सन्निकर्ष होने पर यह प्रतीत होना कि कोई वस्तु है, किन्तु यह न ज्ञात होना कि वह क्या है, अवग्रह है।

(ख) ईहा- अवगृहीतार्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा 'ईहा' है। इसमें मन प्रमेय विषय का विवरण जानने की इच्छा करता है।

(ग) अवाय- ईहितार्थ का विशेष निर्णय 'अवाय' है। इस अवस्था में दृश्य विषय के गुणों का निश्चायक एवं निर्णायक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जैसे, 'यह रक्त कमल है', दृश्य विषय का यह निश्चायक ज्ञान 'अवाय' है।

(घ) धारणा- इस अवस्था में दृश्य विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और इसका संस्कार जीव के अन्तःकरण में अंकित हो जाता है। इसी से स्मृति उत्पन्न होती है। अतः जैन दार्शनिक स्मृति के हेतु के रूप में धारणा की व्याख्या करते हैं।

उपर्युक्त चार अवस्थाओं से संक्रमित होने के उपरान्त प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है।

(2) अनुमान प्रमाण- जैन दार्शनिक अनुमान को भी यथार्थ ज्ञान का प्रमाण मानते हैं। अनुमान एक परोक्ष ज्ञान है। जिसमें अनुमान के आधार पर साध्य का ज्ञान प्राप्त होता है। जैन दार्शनिक भी अनुमान के दो भेद स्वीकार करते हैं- स्वार्थ और परार्थ। अपने संशय को दूर करने के लिए किया गया अनुमान स्वार्थानुमान है। दूसरों की संशयनिवृत्ति के लिए किया गया एवं व्यवस्थित तरीके से व्यक्त किया गया अनुमान परार्थानुमान है। जैन तर्कशास्त्री सिद्धसेन दिवाकर न्याय दार्शनिकों के समान ही अनुमान में पाँच अवयव स्वीकार करते हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन। भद्रवाहु अनुमान में दशावयव मानते हैं- प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, विपक्ष-प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंका-प्रतिषेध और निगमन।

(3) शब्द प्रमाण- शब्द प्रमाण भी जैन दर्शन में एक परोक्ष प्रमाण है। जो ज्ञान शब्द के द्वारा प्राप्त हो, किन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध न हो, वह शब्द प्रमाण है। जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के दो भेद हैं- लौकिक और शास्त्र। तत्त्ववेत्ता विश्वसनीय व्यक्तियों के शब्दों एवं वचनां से प्राप्त ज्ञान लौकिक ज्ञान है और शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान शास्त्रज ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार इन प्रमाणों से अविद्या का क्षय, आनन्द की प्राप्ति एवं व्यावहारिक जीवन में सत्यासत्य का निर्णय होता है।

2.3.4 नय-सिद्धान्त:-

जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनका 'नय-सिद्धान्त'- है। जैन मत में प्रमाणों के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है। जैन दार्शनिक प्रमाण के अतिरिक्त दृष्टिकोण-विशेष जिसे वे 'नय' कहते हैं, से भी तत्त्वों के ज्ञान की पुष्टि करते हैं। जैन दर्शन के प्रमाण एवं नय दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। इन दोनों के आधार पर किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है- प्रमाणनयैरधिगमः। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि प्रमाण से वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। किसी पदार्थ को उसी रूप में जानना जिस रूप में वह है प्रमाण है। नय से वस्तु का आंशिक ज्ञान होता है। इसी कारण प्रमाण को सकलादेश कहा जाता है और नय को विकलादेश।

जैन दर्शन में वस्तु अनन्तधर्मात्मक मानी जाती है। वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान मात्र केवली (सर्वज्ञ) को होता है। साधारण मनुष्य को वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि कर्मजन्य बन्धनों के कारण उसके ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, फलस्वरूप वस्तु के विषय में उसकी जानकारी सीमित या आंशिक होती है। वह वस्तु के सीमित धर्मों को जानता है और उसी के आधार पर उसका वर्णन भी करता है। जैन दर्शन वस्तु के विषय में व्यक्ति के आंशिक ज्ञान या सापेक्ष दृष्टि को 'नय' कहता है- एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः। जै

न दर्शन में इस आंशिक दृष्टिकोण के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श को भी 'नय' कहा जाता है। संक्षेप में, जैन दर्शन में नय के दो अर्थ हैं—

(1) वस्तु के विषय में आंशिक दृष्टिकोण और

(2) आंशिक के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श।

जैन दर्शन में नय के सात भेद प्राप्त होते हैं। ये सातों नय निम्नलिखित हैं- नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय।

(1) नैगम नय-

नैगम नय की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार यह किसी प्रयत्न-विशेष के लक्ष्य से सम्बन्धित है जो बिना किसी व्यवधान के उस प्रयास को नियन्त्रित करता है। सिद्धसेन इससे भिन्न मत को स्वीकार करता है। जब हम किसी वस्तु को जातिगत एवं विशिष्ट दोनों गुणों से युक्त देखते हैं तब यह भी नैगम नय है। अथवा धर्म और धर्मी को, अंग और अंगी को, सामान्य और विशेष को, क्रिया और कारक को तथा भेद और अभेद को गौण-मुख्य भाव से ग्रहण करना नैगम

नय है। जैसे 'जीव-द्रव्य' कहने से धर्मी जीव का मुख्य रूप से और ज्ञानादि धर्म का गौणरूप से ग्रहण होता है। किन्तु 'चेतन जीव' कहने से चेतना धर्म का मुख्य रूप से और जीवद्रव्य का गौण रूप से ग्रहण होता है।

(2) संग्रह नय- संग्रह नय में सामान्य विशिष्टताओं को स्वीकार किया जाता है। यह वह दृष्टि है जिसमें अभेद का ग्रहण होता है और भेद का निराकरण होता है। इस दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है कि सत्ता केवल सामान्य की है, विशेष की कोई सत्ता नहीं है।

(3) व्यवहार नय- इस दृष्टि में विशेष अथवा भेद का ग्रहण होता है और सामान्य अथवा अभेद की उपेक्षा होती है। यह प्रचलित एवं परम्परागत दृष्टिकोण है इसमें वस्तु की निजी विशेषताओं पर बल दिया जाता है। इस दृष्टि की पृष्ठभूमि में यह विचार है कि केवल सामान्य से लोकव्यवहार नहीं संचालित होता। लोकव्यवहार के लिए भेद या वस्तु की विशिष्टता को स्वीकार करना आवश्यक है। यही व्यवहार है।

(4) ऋजुसूत्र नय- इस दृष्टि में पदार्थ की वर्तमानकालीन अवस्था का विचार किया जाता है। इसमें सब प्रकार के नैरन्तर्य को भुला दिया जाता है, फलस्वरूप वस्तु के स्वरूप निर्धारण में उसके भूत एवं भविष्यत् रूपों को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

(5) शब्द नय- इस दृष्टि में अनेक शब्दों को एक ही अर्थ का द्योतक माना जाता है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक नाम का अपना अर्थ होता है और अन्य शब्द भी उसी एक पदार्थ को द्योतित कर सकते हैं। जैसे, घट, कलश और कुम्भ को एक ही पदार्थ का वाचक माना जाता है।

(6) समभिरूढ़ नय- इस में पदों के धात्वर्थ के आधार पर भेद किया जाता है। यह इस बात पर बल देता है कि शब्दव्युत्पत्ति के आधार पर एकार्थक पदों के भी भिन्न अर्थ होते हैं। इसके अनुसार न तो कई शब्दों का एक वाच्यार्थ होता है और न एक शब्द का अनेक अर्थ होता है। जैसे पंकज को कमल का पर्यायवाची माना जाता है, किन्तु व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ है 'वह, जो कीचड़ से उत्पन्न हो'। इस प्रकार शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर कमल का अर्थ नहीं देता।

(7) एवंभूत नय- यह समभिरूढ़ नय का विशिष्ट रूप है। उल्लेखनीय है कि समभिरूढ़ नय किसी शब्द का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के आधार पर करता है और व्युत्पत्ति-भेद से अर्थभेद करता है। एवंभूत नय इस बात पर बल देता है कि उस शब्द का अर्थ तभी स्वीकार करना चाहिए जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ के अनुरूप वैसी क्रिया (एवंभूत) सम्पन्न हो रही हो। जैसे, 'पुजारी' शब्द। समभिरूढ़ नय के अनुसार इसका अर्थ है, 'पूजा करने वाला व्यक्ति', किन्तु एवंभूत नय के आधार पर वह केवल उसी समय पुजारी कहा जायेगा जब पूजाकार्य में प्रवृत्त हो, अन्य समय में नहीं। इस प्रकार यह नय समभिरूढ़ नय

के अस्पष्ट भाव को स्पष्ट करता है। प्रत्येक नय पदार्थ का ज्ञान कराने वाले अनेक दृष्टिकोणों में से केवल एक ही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। किन्तु यदि किसी दृष्टिकोण को सम्पूर्ण समझ लिया जाता है तो यह नयाभास कहलाता है। उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक दृष्टिकोण (नय) सापेक्षतः सत्य है। अतः न तो वह पूर्णरूपेण मिथ्या है और न वह एकमात्र सत्य ही है।

जैन दर्शन में उपर्युक्त सातों नयों का वर्गीकरण दो वर्गों में किया जाता है- अर्थनय और शब्दनय। सातों नयों में से प्रथम चार अर्थनय के अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम तीन नय शब्द नय के अन्तर्गत। कभी-कभी इन नयों का वर्गीकरण निश्चय नय और व्यवहारिक नय में किया जाता है। निश्चय नय के द्वारा तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। इससे तत्त्व के स्वाभाविक नित्य गुणों के स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। व्यावहारिक नय लोक व्यवहार की दृष्टि से तत्त्वों का ज्ञान कराता है। जैन दर्शन में नय का एक अन्य वर्गीकरण भी प्राप्त होता है- द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। पदार्थ के दृष्टिकोण से तत्त्वों का विवेचन द्रव्यार्थिक नय है। इसमें किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके गुणों को द्रव्य पर निर्भर माना जाता है। पर्यायार्थिक नय में परिवर्तन अथवा अवस्था के दृष्टिकोण से विषय का विवेचन किया जाता है। इसमें गुणों की विशिष्टता पर बल देकर द्रव्य को काल्पनिक माना जाता है। जैन दर्शन के उपरोक्त सातों नयों में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नय द्रव्यार्थिक हैं और अन्तिम चार पर्यायार्थिक हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन चेतना को जीव का ---------- मानता है।

2. जिसमें इन्द्रियों, मन आदि माध्यमों की आवश्यकता होती है, -----कहते हैं।

3. जैन दर्शन में प्रमाण है

(क) सकलादेश (ख) विकलादेश

(ग) चलादेश (घ) अचलादेश

4. व्यक्ति के आंशिक ज्ञान या सापेक्ष दृष्टि को ------- कहता है

5. जैन दर्शन में नय का अर्थ है-

(क) वस्तु के विषय में आंशिक दृष्टिकोण (ख) वस्तु का पूर्ण ज्ञान

(ग) वस्तु का विशद स्वरूप (घ) इन्द्रियों से वस्तु का ज्ञान

6. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के कितने भेद हैं?

2.4 स्याद्वाद:-

स्याद्वाद जैन दर्शन का सर्वाधिक विलक्षण सिद्धान्त है। उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा अनेकान्तवादी है जिसमें वस्तु 'अनन्तधर्मात्मक' मानी जाती है। अनन्तधर्मात्मक होने के कारण उसका स्वरूप अत्यधिक जटिल होता है। वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान मात्र केवली को होता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ वह है जो किसी वस्तु को सभी दृष्टियों से जानता है। उसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को सभी वस्तुओं को सभी दृष्टियों से जान लेता है- **एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वो भावः सर्वथा तेन दृष्टः।** साधारण मनुष्य का ज्ञान अत्यधिक सीमित होता है, क्योंकि वह किसी वस्तु को कुछ ही दृष्टियों से देखता है। वह वस्तु के आंशिक धर्मो को ही जानता है और उसी के आधार पर वस्तु के विषय में परामर्श करता है। फलस्वरूप उनके कथनों में परस्पर मतभेद होता है। इनमें से किसी कथन द्वारा वस्तु के स्वरूप का पूर्ण बोध नहीं होता, वस्तु के विषय में कोई कथन एकमात्र सत्य नहीं होता। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अत्यन्त जटिल होने के कारण उसके विषय में कोई कथन अंशतः ही सही होता है, किन्तु कोई कथन पूर्णरूपेण सही नहीं होता। उसकी सत्यता सापेक्ष होती है।

इससे पूर्व यह बताया गया था कि जैन दर्शन में वस्तु के विषय में व्यक्ति के आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं और इस आंशिक ज्ञान के आधार पर वस्तु के विषय में जो परामर्श होता है, उसे भी 'नय' कहते हैं। जैन दर्शन परामर्श के तीन भेद करता है-दुर्नय, नय और प्रमाण नय- **सदेव सत्स्यादिति त्रिधार्थो मीयते दुर्नीतिनयप्रमाणैरिति।** दुर्नय परामर्श का वह रूप है जिसमें किसी परामर्श-विशेष के ही एकमात्र सत्य होने का कथन किया जाता है। जैसे, किसी वस्तु के विषय में यह कथन कि यह सत् ही है दुर्नय है। जैन दर्शन के अनुसार यह एकान्तवाद के दोष से ग्रस्त है, क्योंकि इसमें आंशिक एवं सापेक्ष सत्य को पूर्ण एवं निरपेक्ष सत्य मान लिया जाता है। दुर्नय होने के कारण इसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

नय परामर्श का वह रूप है जिसमें किसी वस्तु के विषय में साधारण रीति से कोई कथन किया जाता है। जैसे, यह सत् है नय है। यह परामर्श एक दृष्टि से सत्य है, किन्तु पूर्ण सत्य नहीं है। वह विकलादेश से ग्रस्त होने के कारण एकनिष्ठ धर्म का प्रतिपादन करता है और उसके अन्य धर्मों का निषेध करता है। दुर्नय तो नहीं है, किन्तु यह प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता को स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया जाता।

जैन विचारधारा में प्रमाण परामर्श का वह रूप है, जिसमें वस्तु के विषय में कोई कथन परिस्थितियों, धर्मों एवं विचारों से सिद्ध किया जाता है। इस परिस्थिति धर्म अथ वा विचार का सामान्य रूप है, 'एक दृष्टि में यह सत् है'। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण सकलादेश है और पूर्णतया सत्य है। जैन दर्शन में 'एक दृष्टि में' इस पदावली का अर्थ देने के लिए किसी कथन के पूर्व 'स्यात्' इस विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन में 'स्यात्' शब्द एक तकनीकी अथ वा पारिभाषिक शब्द के रूप में आया है। यह शब्द यहाँ ज्ञान की पूर्ण सापेक्षता का द्योतक है।

2.4.1 सप्तभङ्गी नय:-

स्याद्वाद का प्रमाण सप्तभंगी नय है। इसका अर्थ है, किसी वस्तु के विषय में परामर्श या नय के सात प्रकार। सप्तभंगी द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जा सकता है। ये बिना किसी आत्मविरोध के अलग-अलग या संयुक्त रूप से किसी वस्तु के विषय में विधान या निषेध करते हैं और इस प्रकार किसी वस्तु के अनेक धर्मों का प्रकाशन करते हैं। सामान्यतः पाश्चात्य दर्शन में परामर्श के दो भेद किये जाते हैं- विध्यात्मक और निषेधात्मक। किन्तु जैन दर्शन में परामर्श के सात भेद किये जाते हैं। इसी को सप्तभंगी नय कहते हैं। इसके सात नय (प्रमाण नय) निम्नलिखित हैं-

(1) स्यादस्ति- जैन दर्शन के अनुसार विध्यात्मक नय 'स्यादस्ति च' आकार में अभिव्यक्त होना चाहिए। जैसे, स्यात् घट है। इससे यह अर्थ निकलता है कि घट अपने नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से विद्यमान है।

(2) स्यान्नास्ति- जैन दर्शन के अनुसार निषेधात्मक नय 'स्यान्नास्ति च' आकार में कहा जाना चाहिए। जैसे, स्यात् घट नहीं है। इसका आशय है कि पर नाम पर स्थापना, पर द्रव्य एवं परभाव की दृष्टि से घड़ा विद्यमान नहीं है। अर्थात् सुवर्ण आदि का बना हुआ (पर द्रव्य), चौकोर घट (पर नाम) एक भिन्न स्थान (पर स्थापना) और एक भिन्न समय में (पर भाव से) विद्यमान नहीं है। संक्षेप में, स्यात् से यह आशय निकलता है कि जिस घट के विषय में परामर्श हुआ है, एक विशेष समय में उस स्थान पर नहीं है जहाँ के लिए उसके सम्बन्ध में परामर्श हुआ है।

(3) स्यादस्ति च नास्ति च- इस नय में दृष्टिभेद से वस्तु का विधान और निषेध दोनों है। जैसे- स्यात् घट है भी और नहीं भी है। इसमें स्व-रूप-द्रव्य- स्थान-काल की दृष्टि से घट का विधान किया जाता है। और पर-रूप-द्रव्य- देश-काल की दृष्टि से घड़े का निषेध भी किया जाता है। इस नय का आशय यह है कि एक विशेष अर्थ में घट है और अन्य अर्थ में घट नहीं है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि 'एक वस्तु क्या है और क्या नहीं है', स्यात् शब्द से यह सूचित होता है कि अस्ति और नास्ति के समुच्चय में तर्कतः विरोध नहीं है।

(4) स्यादवक्तव्यम्- जैन दर्शन के अनुसार किसी वस्तु के अस्ति, नास्ति और उभय के अतिरिक्त एक अन्य कोटि भी है, वह अवक्तव्यता की है। यहाँ अवक्तव्य का अर्थ है, 'युगपत् कथन करने की असमर्थता'। इसका अर्थ है कि दृष्टिभेद से किसी वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों होते हैं, किन्तु भाषा की सीमा और अपर्याप्तता के कारण हम विरोधी गुणों का एक साथ निर्वचन नहीं कर पाते। जैसे, स्यात् घट अवक्तव्य है। इसका अर्थ है कि किसी घट में अपने रूप की उपस्थिति और अन्य रूप की अनुपस्थिति एक साथ होती है, किन्तु हम उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

(5) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च- यह नय प्रथम और चतुर्थ नय को मिलाने से बनता है। इस नय में वस्तु की सत्ता और उसकी अनिर्वचनीयता दोनों का कथन किया जाता है। यह नय यह लक्षित करता है कि कोई वस्तु स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से विद्यमान होने पर भी अपनी इन विशेषताओं और पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से वह अवक्तव्य भी हो सकती है। जैसे, स्यात् घट है और अवक्तव्य भी है। इस नय का अर्थ है कि यदि घट के द्रव्य रूप (मृत्तिका) को देखें तो घट है। किन्तु इसके द्रव्य रूप (मृत्तिका) और परिवर्तनशील रूप, दोनों को एक समय में देखें तो वह अस्तित्ववान् होने पर भी अवर्णनीय है।

(6) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च- यह नय वस्तु की असत्ता और उसकी अनिर्वचनीयता दोनों को उपलक्षित करता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई वस्तु पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से अविद्यमान होने पर भी इन विशेषताओं के साथ स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव से वह अव्यक्त भी हो सकती है। जैसे, स्यात् घट नहीं है और अव्यक्त भी है। इस नय का अर्थ यह है कि घट अपने पर्याय रूप की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वे रूप क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं।

(7) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च- यह नय तृतीय और चतुर्थ नयों को मिलाने से बनता है। जैसे, स्यात् घट है, नहीं है और अव्यक्त भी है। अपने निजी चतुष्टय (स्व-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव) की दृष्टि से परवस्तु के चतुष्टय (पर-नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव) की दृष्टि से और अपने निजी एवं अभावात्मक वस्तु के संयुक्त चतुष्टय के दृष्टि से कोई वस्तु हो सकती है, नहीं भी हो सकती है और अव्यक्त भी हो सकती है। इन दोनों दृष्टियों के आधार संयुक्त रूप से विचार करने पर वह अवक्तव्य है। नय में द्रव्य और पर्यायों के एक साथ होने और अलग-अलग होने के कारण घट का अस्तित्व, अनस्तित्व और अव्यक्तत्व सूचित होता है। स्याद्वाद अनेकान्तवाद को सिद्ध करता है। जैन दर्शन का दावा है कि स्याद्वाद से अनेकान्तवाद सिद्ध होता है। इसके अनुसार विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों पर आधारित होते हैं। इस प्रकार सत्ता सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, सत्ता में उतने धर्म हैं। सप्तभंगी नय की सात विधाओं से यह प्रमाणित होता है कि वस्तु सम्बन्धी विवेचन अनेक दृष्टियों पर आधारित होता है। इस प्रकार वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक होती है।

स्याद्वाद वस्तुवाद है। इसके अनुसार हमारे परामर्श मानसिक प्रत्ययमात्र नहीं हैं, बल्कि वे वस्तु के वास्तविक धर्मों की ओर संकेत करते हैं। जैन मत सापेक्षवाद है। स्पष्ट हो चुका है। वस्तुतः यह वस्तुवादी सापेक्षवाद है, क्योंकि यह मानव ज्ञान को वस्तुओं के धर्मों से सापेक्ष मानता है और ये धर्म मनस्तन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र है। इस प्रकार यह प्रत्ययवादी सापेक्षवाद से भिन्न है जिसमें वस्तु के धर्मों को मनस्तन्त्र माना जाता है। स्याद्वाद बहुलवाद अथवा बहुलवादी वस्तुवाद है, क्योंकि यह वस्तु के अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है।

समीक्षा- जैनेतर भारतीय दर्शन में स्याद्वाद को अस्वीकार किया गया है। स्याद्वाद के प्रधान आलोचकों में बौद्ध, मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती दार्शनिकों को जाना जाता है। स्याद्वाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपेक्ष किये जाते हैं—

(1) आचार्य शंकर ने स्याद्वाद को संशयवाद और अनिश्चिततावाद की संज्ञा दी है। वस्तुतः जैन दर्शन पर ये आरोप 'स्यात्' शब्द के शाब्दिक अर्थ के आधार पर लगाये जाते हैं। ये आलोचक स्यात् शब्द का अर्थ 'हो सकता है', 'शायद', 'कथंचित्' करते हैं और इस आधार पर स्याद्वाद पर उपरोक्त आरोप लगाते हैं। किन्तु स्याद्वाद, संशयवाद, अनिश्चिततावाद या अज्ञेयवाद नहीं है।

(2) आलोचक सप्तभंगी नय के तृतीय नय को आत्मविरोधी घोषित करते हैं। इनके अनुसार कोई वस्तु 'है' और 'नहीं है' एक साथ कैसे हो सकती है? धर्मकीर्ति का कथन है कि, 'ये निर्लज्ज जैन दार्शनिक पागल मनुष्य के समान परस्पर विरोधी कथन करते हैं।' आचार्य शंकर के अनुसार, 'स्याद्वाद, जो कि यथार्थ और अयथार्थ, अस्तित्व और अनस्तित्व, एक और अनेक, अभिन्न और भिन्न तथा सामान्य और विशेष आदि का मिश्रण करता है, पागल व्यक्ति के क्रन्दन और उन्मत्त के प्रलाप के समान प्रतीत होता है'। किन्तु जैन दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर उसके धर्मों में कोई विरोध नहीं दिखायी देता। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु में एकता एवं नित्यता आदि का विधान किया जा सकता है तो पर्याय की दृष्टि से अनेकता और अनित्यता आदि का। अतः स्याद्वाद में कोई विरोध नहीं है।

(3) जैन दर्शन के अनुसार हमारे सभी ज्ञान सापेक्ष एवं आंशिक हैं। वे निरपेक्ष ज्ञान को अस्वीकार करते हैं। किन्तु निरपेक्ष को स्वीकार किये बिना सापेक्ष की अवधारणा को स्वीकार करना असम्भव है। पुनः, जैन दार्शनिक 'केवल ज्ञान' को शुद्ध, पूर्ण, अपरोक्ष और परमार्थ ज्ञान मानते हैं जो सभी आवरणीय कर्मों के क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है।

(4) जैन दर्शन स्याद्वाद एवं सप्तभंगी नय के आधार पर अन्य मतों की परीक्षा तो करता है, किन्तु इसके आधार पर वह अपनी परीक्षा नहीं करता। वह स्याद्वाद के आधार पर अन्य मतों को सापेक्ष और

आंशिक सत्य मानता है। किन्तु वह अपने सिद्धान्त को एकमात्र सत्य घोषित करके इसे भूल जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद एंव सप्तभंगीनय अन्तर्विरोध से ग्रस्त है।

(5) स्याद्वाद अनेकान्तवाद को स्थापित नहीं करता है। जैन दर्शन का यह दावा अनुचित है कि वह स्याद्वाद के आधार पर अनेकान्तवाद को सिद्ध करता है। वस्तुतः जैन तर्कशास्त्र एवं ज्ञानमीमांसा अद्वैतवाद की ओर ले जाती है। आचार्य शंकर का कथन है कि यदि सभी सिद्धान्त सोपाधिक दृष्टि से सत्य हैं तो स्याद्वाद स्वयं भी सोपाधिक सत्य होगा। सापेक्षता निरपेक्ष से सम्बन्धित है और उसके अस्तित्व को पहले ही स्वीकार कर लेती है। स्याद्वाद हमें बिखरे हुए नयों को देता है, किन्तु उनके समन्वय का प्रयास नहीं करता। सप्तभंगी नय सात नयों का एकत्रीकरणमात्र है, उनका समन्वय नहीं। निरपेक्ष ही वह सूत्र है जो सब सापेक्षों में एकता स्थापित करता है। 'अनन्तधर्मात्मक' कहने से एवं धर्मी की उपेक्षा करने से तत्त्व को बोध नहीं हो सकता।

इस प्रकार स्यद्वाद एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है और उनमें समन्वय करने का प्रयास नहीं करता। जैन दर्शन का स्याद्वाद वहाँ तक तो ठीक है जहाँ तक यह लोगों को एकांगी मतों से सावधान करता है। किन्तु वह हमें जिस स्थल पर छोड़ता है, वह एकांगी समाधानों से थोड़ा ही अधिक है। वस्तुतः या तो जैन दार्शनिक अपने तर्कशास्त्र के निहितार्थों को नहीं समझ सके या साम्प्रदायिक कारणों से उसके निहितार्थ का कथन नहीं कर सके। यदि वे उसके तार्किक निष्कर्ष का कथन करने का साहस करते तो वे अनिवार्यतः अद्वैतवाद पर पहुँचते।

अभ्यास प्रश्न

1. स्यात् है-

(क) पूर्ण ज्ञान (ख) सापेक्ष ज्ञान

(ग) केवल ज्ञान (घ) इन्द्रिय ज्ञान

2. स्याद्वाद -------- को सिद्ध करता है।

3. जैन विचारधारा में -------- परामर्श का वह रूप है, जिसमें वस्तु के विषय में कोई कथन परिस्थितियों, धर्मों एवं विचारों से सिद्ध किया जाता है।

4. स्याद्वाद का प्रमाण ---------- है।

2.5 सारांश:-

इस इकाई के द्वितीय पाठ को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा में प्रमाण एवं नय की अनूठी व्याख्या है। यह ज्ञानमीमांसा अन्य दार्शनिक विचारधारा की अपेक्षा कहीं अधिक अध्यात्मपरक है। साथ ही यह विचारधारा कहीं अधिक अध्यात्मोन्मुखी है। किन्तु अनकी सर्वाधिक अनूठी देन अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय तथा नय सिद्धान्त है जिन्होंने दर्शन जगत् को चिन्तन की नयी व प्रामाणिक दिशा दी। स्याद्वाद तो ऐसा चिन्तन है जिसकी छाया आईन्स्टीन के सापेक्षिक सिद्धान्त में देखी जा सकती है। इनके सिद्धान्तों के साथ एक विस्तृत समीक्षा दी गयी है जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

आशा है इस इकाई के अध्ययन से आप जैनविषयक ज्ञानमीमांसा के सहज व संक्षिप्त रूप् को पढकर व जानकर इस चिन्तन परम्परा में प्रवृत्त हो पाएँगे।

2.6 शब्दावली:-

केवली- जैन दर्शन में देश कालादि की सीमा से रहित ज्ञान सर्वज्ञता है। इस परम ज्ञान को प्राप्त करने वाला केवली कहलाता है। वस्तु के अनन्त धर्मो का ज्ञान मात्र केवली को होता है।

सप्तभंगी- स्याद्वाद को प्रकट करने की सात विधा है जिसे सामान्यतया सप्तभंगी कहा जाता है। सप्तभंगी द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जा सकता है। दूसरी ओर जैन दर्शन में परामर्श के सात भेद किये जाते हैं। इसी को सप्तभंगी नय कहते हैं।

बहुलवाद- स्याद्वाद बहुलवाद अथवा बहुलवादी वस्तुवाद है, क्योंकि यह वस्तु के अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

2.3 1. स्वरूप धर्म, 2. परोक्ष ज्ञान, 3. क, 4. नय, 5. क 6. दो

2.4 1. ख, 2. अनेकान्तवाद, 3. प्रमाण, 4. सप्तभंगी नय

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,

2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)

6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा

7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5

8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्नः-

(क) जैन दर्शन की अनुमान व्यवस्था को विस्तारपूर्वक समझाएं।

(ख) नय सिद्धान्त को सोदाहरण समझाएं।

(ग) सप्तभंगीनय की सोदाहरण वयाख्या करें।

(घ) आज के सन्दर्भ में स्याद्वाद की महत्ता पर प्रकाश डालें।

(ड) जैन दर्शन के प्रमाण चिन्तन के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालें।

(च) प्रमाण व नय के प्रयोजन व अन्तर को स्पष्ट करें।

इकाई- 3 जैन दर्शन का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 जैन तत्त्वमीमांसा
3.3.1 द्रव्य चिन्तन
3.3.2 द्रव्य के भेद
3.3.2.1. जीव द्रव्य
3.3.2.2 जीव के अस्तित्व के लिये प्रमाण
3.3.3 जीव द्रव्य
3.3.3.1 पुद्गल
3.3.3.2 आकाश
3.3.3.3 धर्म और अधर्म
3.3.3.4 काल
3.4 जैन आचारमीमांसा
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना:-

जैन दर्शन से सम्बन्धित यह तीसरी इकाई है। इससे पूर्व द्वितीय इकाई में आपने जैन ज्ञानमीमांसा की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। जिसके आधार पर आप बता सकते हैं कि जैन की प्रमाण व्यवस्था कैसी है ? इस पाठ में हम जैन दर्शन के सिद्धान्त से सम्बद्ध तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा के विभिन्न विषयों पर चर्चा करेंगे। जिसमें यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि इस जगत् की व्यवस्था जैन में किस प्रकार से स्वीकृत है साथ ही नैतिक मूल्यों तथा आचार व्यवहार के विषय मे इनकी क्या दृष्टि है ? इस इकाई के अध्ययन के बाद आप द्रव्य के स्वरूप तथा जैन आचार-व्यवहार को समझा सकेंगे तथा अन्य दर्शनों के साथ इनकी स्थिति का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

3.2 उद्देश्य:-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- बता सकेंगे कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा विषयक दृष्टि क्या है ?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन में जीव, अजीव, पुद्गल, कालादि व्यवस्था क्या है ?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन में जगत् की विविधता का निहितार्थ क्या है ?
- समझ सकेंगे कि जैन दर्शन की आचारमीमांसा इस जगत् के कितनी अनुरूप हैं ?

3.3 जैन-तत्त्व मीमांसा:-

तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत विश्व के मूलतत्त्व अर्थात् आदि कारण का अनुसन्धान किया जाता है। यदा कदा इसे सत्तामीमांसा भी कहा जाता है। जैन तत्त्वमीमांसा वास्तववादी और सापेक्षतावादी बहुत्ववाद है। इसे अनेकान्तवाद कहा जाता है। तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं- अनन्तधर्मात्मकं वस्तु। सत्ता की दृष्टि से इसे अनेकान्तवाद तथा ज्ञान की दृष्टि से स्याद्वाद कहा जाता है। अनेकान्तवाद का अर्थ है वस्तु का अनन्तधर्मात्मक होना। अनन्तधर्मात्मक का अर्थ है वस्तु में अनन्त गुण या अनन्त लक्षण होना। जैन दर्शन के अनुसार जिस आश्रय में धर्म होते हैं वह 'धर्मी' है तथा धर्मी की विशेषताएँ 'धर्म' है। जैन दर्शन में धर्मी के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग होता है। यह द्रव्य सत् है- सद् द्रव्यलक्षणम्। बल्कि तत्त्व एवं द्रव्य की तरह द्रव्य एवं सत् भी एकार्थक है क्योंकि सब एक हैं इसलिये सब सत् हैं- सर्वमेकम्, सद्विशेषाद्।

3.3.1 द्रव्य चिन्तन:-

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म स्वीकार किये जाते हैं- स्वरूप धर्म और आगन्तुक धर्म। इस प्रकार द्रव्य वह है जिसमें स्वरूप और आगन्तुक दोनों धर्म पाये जाते हैं। स्वरूप धर्म द्रव्य के अपरिवर्तनशील एवं नित्य धर्म हैं। इसके अभाव में द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। आगन्तुक धर्म द्रव्य के परिवर्तनशील धर्म है। ये धर्म द्रव्य में आते-जाते रहते हैं। इनके बिना भी द्रव्य अस्तित्ववान् हो सकता है।

जैन दर्शन में स्वरूप धर्म को गुण कहा जाता है और आगन्तुक धर्म को पर्याय। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय पाये जाते हैं- गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। जैन इस बात पर बल देते हैं कि द्रव्य और गुण को परस्पर पृथक् नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य सत् है- सद्द्रव्यलक्षणम्। सत् वह है जिसकी उत्पत्ति एवं विनाश होता है तथा जिसमें स्थिरता होती है- उत्पादव्ययध्रौव्ययुतं सत्। द्रव्य गुण की दृष्टि से नित्य होता है, क्योंकि गुण उसके अपरिवर्तनशील धर्म हैं। पर्याय की दृष्टि से वह परिवर्तनशील और अस्थायी है। जैसे, घट में मृत्तिका अपरिवर्तनशील एवं नित्य तत्त्व है। इसकी तीन विशेषताएँ हैं- उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति। द्रव्य की इन तीनों विशेषताओं में कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि गुण की दृष्टि से द्रव्य में एकता, सामान्यत्व एवं नित्यता की सिद्धि होती है और पर्याय की दृष्टि से अनेकता, विशेषत्व एवं अनित्यता की। इस प्रकार दृष्टि-भेद से वस्तु में एकता और अनेकता, सामान्यत्व एवं विशेषत्व, नित्यता एवं अनित्यता एक साथ रह सकते हैं।

3.3.2. द्रव्य के भेद:-

जैन दर्शन में द्रव्य के दो भेद हैं- अस्तिकाय और नास्तिकाय। अस्तिकाय द्रव्य विस्तृत द्रव्य है। चूँकि इसकी सत्ता है (अस्ति) और काय या शरीर की भाँति आकाश में विस्तृत है, इसलिए इसे अस्तिकाय द्रव्य कहते हैं। यह बहुप्रदेशव्यापी द्रव्य है। अस्तिकाय द्रव्य के दो भेद हैं- जीव और अजीव। जीव चेतन द्रव्य है। अजीव अचेतन द्रव्य है। अजीव के चार भेद हैं- पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म। नास्तिकाय विस्ताररहित द्रव्य है। यह एक प्रदेशव्यापी है। काल ही एकमात्र नास्तिकाय द्रव्य है। द्रव्य का संक्षिप्त वर्गीकरण अग्रांकित है-

द्रव्य	अस्तिकाय		नास्तिकाय (काल)
जीव			अजीव
पुद्गल	आकाश	धर्म	अधर्म

3.3.2.1 जीवद्रव्य:-

जैन दर्शन के प्रवर्तक आचार्यों के मत में जीव नित्य चेतन तथा अभौतिक तत्त्व है। जैन दर्शन में जीव शरीर एवं इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न एक चेतन सत्ता है। यहाँ जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका स्वरूप या नित्य धर्म है। चेतना के अभाव में जीव का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार चेतना कभी नष्ट नहीं होती। यहाँ जैन दर्शन का आत्मा सम्बन्धी विचार न्याय-वैशेषिक दर्शन के विचारों से भिन्न है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है। यह आत्मा एक अचेतन द्रव्य है जो विशेष अवस्थाओं में चैतन्य का आधार बनता है। किन्तु जैन दर्शन आत्मा को नित्य धर्म मानता है। उसके अभाव में आत्मा की सत्ता असम्भव है। जैन दर्शन यह भी कहता है कि जीव में कुछ आगन्तुक धर्म भी होते हैं जो उसमें आते-जाते रहते हैं। सुख, दुःख इच्छा, संकल्प, आदि जीव के आगन्तुक धर्म हैं। जैन दर्शन में जीव का एक अन्य लक्षण भी प्राप्त होता है। उमास्वामी के अनुसार, जीव का लक्षण उपयोग है- उपयोगलक्षणो जीवः।

जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वभावतः पूर्ण है। उसमें 'अनन्तचतुष्टय' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं। ये हैं- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द। जीव के ये स्वाभाविक धर्म केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में, जो बन्धनग्रस्त हैं, अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

जैनदर्शन चेतना की अभिव्यक्ति के आधार पर जीवों का वर्गीकरण करता है। वह सर्वप्रथम जीव के दो भेद करता है- मुक्त और बद्ध। मुक्त जीवों में जीव के स्वाभाविक स्वरूप का पूर्ण प्रकाशन होता है। बद्ध जीव वे हैं जो अब भी कर्म पुद्गलों से अक्रान्त हैं। जैन दर्शन बद्ध जीवों के दो भेद करता है- त्रस और स्थावर। त्रस जीव गतिमानं हैं और स्थावर जीवों में गति नहीं होती। स्थावर जीवों में जीव के स्वरूप की न्यूनतम अभिव्यक्ति होती है। इनके पाँच प्रकार है- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, तेजकायिक और वनस्पतिकायिक। इनमें केवल एक इन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय पायी जाती है। त्रस जीवों में स्थावर जीवों की अपेक्षा चेतना अधिक विकसित होती है। चैतन्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से त्रस जीवों के चार भेद होते हैं-

(1) द्वीन्द्रिय जीव- इन जीवों को स्पर्शेन्द्रिय एंव रसनेन्द्रिय, दो इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे, सीप, बिना पैरों वाले कीट और घोंघा।

(2) त्रीन्द्रिय जीव- जिनके इन दो के साथ घ्राणेन्द्रियॉ भी हैं त्रीन्द्रिय कहलाती हैं। जैसे- जू, खटमल, पिपीलिका आदि।

(3) चतुरिन्द्रिय जीव- इन जीवों में स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षुः ये चार इन्द्रियाँ पायी जाती हैं। जैसे- भ्रमर, मक्खी आदि।

(4) पंचेन्द्रिय जीव- इन जीवों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों होती हैं। जैसे- मनुष्य, पशु, पक्षी आदि।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि जैन दर्शन अनेकजीववाद में विश्वास करता है। जैन दर्शन का यह विचार सांख्य दर्शन के 'पुरुषबहुत्व की अवधारणा' के नजदीक है।

जैन दर्शन जीव के विषय में मध्यमपरिमाणवाद का प्रतिपादन करता है। यह भारतीय दर्शन में एक विचित्र सिद्धान्त है। इसके अनुसार जीव का परिमाण मध्यम आकार का है। यह सांसारिक अवस्था में जीव के परिमाण को घटने-बढ़ने वाला मानता है। यह आत्मा के परिमाण के विषय में विभुवाद और अणुवाद का मध्यवर्ती सिद्धान्त है। भारतीय दर्शन में न्याय एवं अद्वैत वेदान्त, आदि विचारधाराएँ आत्मा को 'विभु-परिमाण' मानती हैं। इसके विपरीत वैष्णव विचारधाराएँ उसे 'अणु-परिमाण' मानती हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के विपरीत जैन दार्शनिक उसे 'मध्यम-परिमाण' मानते हैं। वे उसे शरीरपरिमाणी कहते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव में विस्तार है, उसमें विस्तार और संकोच की संभावना रहती है। जीव जिस भौतिक शरीर से सम्बद्ध होता है, उसकी लम्बाई- चौड़ाई के अनुरूप उसका विस्तार और संकोच होता है। माता के गर्भ में शिशु लघु आकार का होता है और शरीरविस्तार के साथ उसका आकार बढ़ता रहता है। जब जीव मनुष्ययोनि में होता है तो उसका परिमाण मानवशरीर के तुल्य होता है। जब वही जीव अपने कर्मानुसार हाथी या चींटी के शरीर में प्रवेश करता है तब उसका परिमाण हाथी या चींटी के परिमाण के समान हो जाता है। अर्थात् जीव न तो विभु है और न अणु, अपि तु वह शरीरपरिमाणी है। जैन के अनुसार जिस प्रकार एक ही कमरे को दो दीपक आलोकित कर सकते हैं उसी प्रकार एक ही शरीर में एकाधिक जीव भी अस्तित्ववान् हो सकते हैं।

3.3.2.2 जीव के अस्तित्व के लिए प्रमाण:-

जैन दर्शन में निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर जीव या आत्मा की सत्ता सिद्ध की जाती है-

(1) सुख, दुःख इच्छा, संकल्प आदि गुणों का हमें अनुभव होता है। चूँकि गुण बिना गुणी के नहीं रह सकते। अतः इन गुणों के अस्तित्व के लिए भी किसी द्रव्य का होना आवश्यक है। ये द्रव्य ही आत्मा हैं।

(2) शरीर यन्त्रवत् है। जिस प्रकार किसी यन्त्र को संचालित करने के लिए एक चालक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर जो जड़ है उसे संचालित होने के लिए भी एक चालक की आवश्यकता है। वह चालक ही आत्मा है।

(3) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के साधनमात्र हैं। यह ज्ञान स्वयं ज्ञानेन्द्रियें को या शरीर को नहीं प्राप्त होता। इन साधनों से ज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मा है।

(4) शरीर के निर्माण के लिए आत्मा की सत्ता आवश्यक है। शरीर का निर्माण पुद्गलकणों से होता है। ये पुद्गलकण अचेतन हैं। अतः इनसे स्वतः शरीर का निर्माण नहीं हो सकता। शरीर का आकार प्राप्त करने के लिये इन्हें एक निमित्त कारण की आवश्यकता है। यह निमित्त कारण आत्मा या जीव है।

3.3.3 अजीव-द्रव्य:-

जैन दर्शन में अजीव अचेतन या जड़ द्रव्य है। जिसे सुख दुःख की अनुभूति नहीं होती वह अजीव द्रव्य है। जीव की तरह अजीव भी अस्तिकाय द्रव्य है। ये अजीव द्रव्य चार प्रकार के हैं- पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म।

3.3.3.1 पुद्गल:-

संघटन तथा विघटन के द्वारा परिणाम को प्राप्त करने वाले अजीव द्रव्य का नाम पुद्गल है। जैन दर्शन में पुद्गल जड़ तत्त्व या भौतिक तत्त्व है। तत्त्व रूप में पुद्गल का प्रयोग बौद्ध दर्शन में भी हुआ है वहाँ यह शब्द जीव के लिए आया है। यह विश्व का भौतिक आधार है। व्युत्पत्ति के अनुसार, पुद्गल का अर्थ है पूरयन्ति गलयन्ति च। अर्थात् जो द्रव्य पूरण और गलण के द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है वह पुद्गल है- गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः।

पुद्गल के दो प्रकार हैं- अणुरूप और स्कन्धरूप। पुद्गल के विभाजन की अन्तिम एवं सूक्ष्मतम अवस्था, जो पुनः अविभाज्य हो, गुण कहलाती है। अणु अविभाज्य होने के कारण निरवयव होता है। इसका आदि, अन्त एवं मध्य कुछ भी नहीं होता। यह सूक्ष्मतम, अविभाज्य, निरवयव, निरपेक्ष एवं नित्य सत्ता है। इसका न तो निर्माण होता है और न विनाश। वह स्वयं अमूर्त है। यह अमूर्त होते हुए भी सभी मूर्त वस्तुओं का आधार है। जैन दर्शन के अनुसार अणुओं में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श गुण होते हैं। ये गुण नित्य या स्थायी नहीं हैं। अणुओं के ये गुण उनके संघातों में भी पाये जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार अणु पुद्गलों के संघात से स्कन्ध पुद्गलों का निर्माण होता है। जैन दर्शन की सृष्टिमीमांसा में विश्व का ढाँचा परमाणुओं से निर्मित मान जाता है। सभी भौतिक पदार्थ, जो इन्द्रियों से जाने जाते हैं, जिनमें

जीवों के शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन भी शामिल हैं, अणुओं से निर्मित हैं। दो या अधिक अणुओं के संयोग से स्कन्ध या संघात पुद्गल उत्पन्न होते हैं। अणुओं में आकर्षणशक्ति होती है जिससे अणुओं में संयोग पर विभाग होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु स्कन्ध पुद्गल हैं और सम्पूर्ण जगत् इन्हीं स्कन्धों से निर्मित है। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ एक स्कन्ध है और भौतिक जगत् स्कन्धों का समूह है। भौतिक जगत् में दिखाई देने वाले परिवर्तन अणुओं के संयोग और विभाग से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में, अणुपुद्गल अदृश्य हैं, अनुमानगम्य हैं, किन्तु स्कन्ध पुद्गल दृष्टिगोचर हैं। अणु पुद्गल कारणरूप हैं और स्कन्ध पुद्गल कार्यरूप।

भारतीय दर्शन में अणुवादी कल्पना वैशेषिक दर्शन में भी प्राप्त होती है। जैन एवं वैशेषिक अणुवाद में कुछ समानताएँ हैं। दोनों अणुओं को अविभाज्य, निरवयव, नित्य, अदृश्य तथा भौतिक जगत् का उपादान कारण मानते हैं। दोनों दर्शनों के अणुवादी विचारों में कुछ मतभेद भी हैं। जैसे, जैन दार्शनिक अणुओं में केवल परिमाणात्मक भेद मानते हैं, किन्तु वैशेषिक दार्शनिक अणुओं में परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों भेद स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक अणुओं के गुणों को नित्य नहीं मानते, किन्तु वैशेषिक इनके गुणों को भी नित्य मानते हैं। जैन के परमाणुवाद पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 हरमन जैकोबी का कहना है कि हम जैनों को प्रथम स्थान देते हैं क्योंकि उन्होंने पुद्गल के सम्बन्ध में अतीव प्राचीन मतों के आधार पर ही अपनी पद्धति (परमाणुवाद) को स्थापित किया है।

3.3.3.2 आकाश:-

जैन दर्शन में आकाश वह अस्तिकाय द्रव्य है जिसमें अन्य अस्तिकाय द्रव्य, जीव एवं अजीव विस्तृत हैं तथा यह रूपादिरहित, अमूर्त, निष्क्रिय तथा सर्वव्यापक है। आकाश स्वतः न गति की अवस्था में है और न स्थिरता की अवस्था में। उल्लेखनीय है कि विस्तृत होना अस्तिकाय द्रव्यों का धर्म है, किन्तु उनका विस्तार आकाश में ही सम्भव है। यह भी सत्य है कि आकाश विस्तारहीन पदार्थों को विस्तृत नहीं कर सकता, किन्तु विस्तृत पदार्थों का विस्तार आकाश के अभाव में सम्भव नहीं है। आकाश अनन्त है। आकाश- प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। उसका ज्ञान अनुमान से होता है। जैन दर्शन अस्तिकाय द्रव्यों के विस्तार हेतु आकाश का अनुमान करता है।

इस आकाश के दो भेद हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में ही गति सम्भव है। सभी अस्तिकाय द्रव्य लोकाकाश में ही विस्तृत हैं। अलोकाकाश शून्य आकाश है। यह अनन्त तक विस्तृत है। इसमें गति का अभाव है।

3.3.3.3 धर्म और अधर्म:-

जैन दर्शन में धर्म एवं अधर्म का शाब्दिक अर्थ न तो शुभ और अशुभ कर्म हैं, न पुण्य और पाप तथा न गुण और पर्याय रूप धर्म। यहाँ ये शब्द तकनीकी और पारिभाषिक अर्थ में स्वीकार किये जाते हैं। जैन दर्शन संसार में गति एवं स्थिति के लिए क्रमशः धर्म और अधर्म की सत्ता स्वीकार करता है। ये दोनों जीव और पुद्गल की क्रमशः गति और स्थिति के सहायक कारण हैं। धर्म गति का आधार है। धर्म स्वयं गति नहीं है और न यह जीव और पुद्गलादि द्रव्यों को गति प्रदान करता है। किन्तु इन द्रव्यों में जो गति दिखाई देती है वह धर्म के कारण ही होती है। धर्म उनकी गति में केवल सहायक होता है। जैसे, मछली पानी में तैरती है। पानी मछली को न तो गति प्रदान करता है और न उन्हें गति करने के लिए प्रेरित करता है, अपितु वह उसके तैरने के लिए आधार देता है। उसी प्रकार धर्म जीवादि द्रव्यों की गति का आधार है। इसी प्रकार अधर्म न तो स्वयं स्थिति है और न वह जीवादि द्रव्यों को स्थिति प्रदान करता है। वह केवल जीव, पुद्गलादि द्रव्यों की स्थिति का आधार है।

धर्म एवं अधर्म में परस्पर विरोध के अतिरिक्त कतिपय समानताएँ भी हैं। ये दोनों क्रमशः गति एवं स्थिति के उदासीन कारण है। इन दोनों का ज्ञान अनुमान से ही होता है। गति के कारण के रूप में धर्म का और स्थिति के कारण के रूप में अधर्म का अनुमान किया जाता है। दोनों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों का अभाव है। दोनों नित्य एवं अमूर्त हैं।

3.3.3.4 काल:-

परिवर्तन का जो कारण है उसे काल कहते हैं। यह एक अनस्तिकाय द्रव्य है। इसका अस्तित्व तो है, किन्तु इसमें कायत्व या विस्तार नहीं है। काल की सत्ता भी अनुमान से ही सिद्ध होती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व, ज्येष्ठ और कनिष्ठ आदि विचारों की सार्थकता के लिए काल की सत्ता का अनुमान किया जाता है। काल न हो तो उक्त अवधारणाएँ सम्भव नहीं हैं। भिन्न-भिन्न क्षणों में वर्तमान रहना वर्तना है। अवस्थाओं में परिवर्तन परिणाम है। क्रिया अथवा गति भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को धारण करना है। इनके लिए काल का होना आवश्यक है। इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चात् के भेद, ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ के भेद की सम्भावना भी काल के कारण है। इनकी सम्भावना के लिए ही काल की सत्ता का अनुमान करते हैं। समस्त विश्व में एक ही काल व्याप्त है।

काल के भेद- काल के दो भेद हैं- पारमार्थिक काल और व्यावहारिक काल। वर्त्तना पारमार्थिक काल के कारण होती है। यह सदैव वर्तमान काल में ही रहती है। इसमें भूत्, वर्तमान एवं भविष्यत् का विभाजन नहीं होता। व्यावहारिक काल को 'समय' भी कहते हैं। वर्त्तना के अतिरिक्त अन्य परिवर्तन व्यावहारिक काल के कारण होते हैं। वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन, घंटा, मिनट, सेकण्ड,

पल, क्षण आदि व्यावहारिक काल के उदाहरण हैं। पारमार्थिक काल अनादि और अनन्त है, किन्तु व्यावहारिक काल सादि और सान्त है।

संक्षेप में, जैन दर्शन की स्थापना निम्न प्रकार की है। दर्शन की सभी प्रणालियॉं सत् या वास्तविकता के स्वरूप की व्याख्या करने के प्रयास में किसी एक विशेष विकल्प से जुड़ी रहती हैं। उनका हठधर्मितापूर्ण दावा होता है कि केवल उन्हीं का विकल्प सच्चा विकल्प है जब कि अन्य प्रणालियों की धारणाए तार्किकता पर खरी नहीं उतरतीं और इसलिये उन्हें अस्वीकार किया जाना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार एक ही विकल्प को पकड़े रहना उचित नहीं है। संसार बहुलता युक्त है। यहॉं तक कि एक अकेली वस्तु भी अनेकधर्मी होती है। वस्तुओं को अनेक दृष्टिकाणों से देखा जा सकता है। प्रत्येक दृष्टिकोण से भिन्न निष्कर्ष निकलता है। किन्तु ऐसे प्रत्येक निष्कर्ष में मात्र आंशिक सत्य होगा। परम स्वीकार या परम निषेध, दोनों ही भ्रमपूर्ण हैं। प्रत्येक स्थापना सशर्त होती है। कोई भी स्वीकृति या निषेध किसी विशिष्ट स्थिति में ही सत्य हो सकता है, यह अपने आपमें सत्य नहीं हो सकता।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन में सत् का लक्षण है-

(क) उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त होना (ख) कूटस्थ नित्य होना

(ग) त्रिकालातीत होना (घ) जैसा है वैसा ही होना

2. जैन दर्शन में पुद्गल है-

(क) जीव द्रव्य (ख) अजीव द्रव्य

(ग) द्रव्य का धर्म (घ) नित्य द्रव्य

3. जैन दर्शन में जीव का स्वरूप है-

(क) अनस्तिकाय (ख) मध्यम परिमाण

(ग) एकमात्र सत्य (घ) इनमें से कोई नहीं

4. निम्नलिखित में गति का आधार है-

(क) जीव (ख) अजीव

(ग) अधर्म (घ) धर्म

5. निम्नलिखित में से अनस्तिकाय द्रव्य है-

(क) पुद्गल (ख) धर्म

(ग) काल (घ) अधर्म

6. निम्नलिखित में से कौन असत्य है-

(क) जैन दर्शन में अजीव अचेतन द्रव्य है।

(ख) जिसे सुख दुःख की अनुभूति होती है वह अजीव द्रव्य है।

(ग) जीव की तरह अजीव भी अस्तिकाय द्रव्य है।

(घ) धर्म अजीव द्रव्य है।

3.4 जैन आचारमीमांसा:-

अन्य भारतीय दर्शनों की भॉंति जैन दर्शन की भी अपनी आचार मीमांसा है। यह आचार मीमांसा इनके मोक्ष ज्ञान की परिधि में स्थिर है। ऐसे में इस दर्शन में मोक्ष साधना के क्रम में आचार की शुद्धता का विशेष महत्त्व है। बन्धन से छुटकारा मोक्ष है- यह जानते हुये मोक्ष की अवधारणा से पूर्व बन्धन को जानना आवश्यक है।

बन्धन का स्वरूप- जैन दर्शन में बन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न जीव या आत्मा के विषय में उठता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका लक्षण है। जीव स्वभावतः पूर्ण एवं मुक्त है। उसमें 'अनन्तचतुष्टय' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं। ये हैं-अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द। जीव के ये स्वाभाविक धर्म केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में, जो बन्धनग्रस्त हैं, अनन्तचतुष्टय की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। उल्लेखनीय है कि बन्धनग्रस्त अवस्था में भी जीव के ये लक्षण केवल तिरोहित होते हैं, नष्ट नहीं होते। कर्मजन्य बाधाओं के दूर हो जाने पर ये स्वाभाविक धर्म जीव में पुनः प्रकट हो जाते हैं। जैसे, सूर्य सम्पूर्ण जगत् को आलोकित करता है, किन्तु मेघ और तुषार, आदि के आवरण के कारण वह संसार को प्रकाशित नहीं कर पाता। जब इनसे उत्पन्न आवरण दूर हो जाता है तब वह संसार को पुनः प्रकाशित करता है। वैसे ही जीव भी स्वभावतः पूर्ण है और 'अनन्तचतुष्टय' से युक्त है, किन्तु बन्धन ग्रस्त होने के कारण उसके स्वाभाविक स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। जब

वह मुक्त हो जाता है तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को पुनः प्राप्त कर लेता है। जैन दर्शन के अनुसार बन्धन का अर्थ है, 'जन्म ग्रहण करना', 'जीव का शरीर से सम्बन्ध होना'। जीव और कर्मपुद्गलों का संयोग होना बन्धन है। शरीर धारण करने से या कर्म पुद्गलों से संयोग होने के कारण जीव की स्वाभाविक पूर्णता तिरोहित हो जाती है और उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही बन्धन का कारण है। जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा अत्यन्त विलक्षण है। भारतीय दर्शन की अन्य प्रणालियों में कर्म का तात्पर्य अच्छे बुरे कार्यों और करनेवाले के लिये उनके अच्छे या बुरे परिणामों से होता है। किन्तु जैन दर्शन में कर्म मूलतः भौतिक एवं पौद्गलिक है जो जीव से उसी प्रकार संलग्न हो सकता है जिस प्रकार किसी चिपचिपे पदार्थ से मैल चिपक जाती है। कर्म का तात्पर्य पदार्थ के उन सूक्ष्म कणों से है जो जीव को बॉंधते हैं। कर्म जीव से संयुक्त होकर उसके स्वरूप की दूषित कर देता है जिसके कारण जीव अपनी शुद्धता से च्युत होकर बन्धन की अवस्था में आ जाता है।

जैन दर्शन में कर्म की महती भूमिका है। जीव की सम्पूर्ण शारीरिक विशेषताएँ कर्मजन्य मानी जाती है। ये कर्म आठ प्रकार के हैं-

1. **ज्ञानावरणीय कर्म-** ज्ञान का नष्ट करने वाले कर्म।
2. **दर्शनावरणीय कर्म-**विश्वास का नष्ट करने वाले कर्म।
3. **मोहनीय कर्म-** अज्ञान या मोह पैदा करने वाले कर्म।
4. **वेदनीय कर्म-** सुख या दुःख की अनुभूति पैदा करने वाले कर्म।
5. **गोत्र कर्म-** गोत्र को निर्धारित करने वाले कर्म।
6. **आयुष्कर्म-** जीव की आयु का निर्धारण करने वाले कर्म।
7. **नाम कर्म-** वह कर्म, जिससे व्यक्ति के नाम का निश्चय होता है ।
8. **अन्तराय कर्म-** बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म।

कर्म जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। जीव के अतीत कर्मों से जीव में वासनाएँ पैदा होती है। वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं, परिणामस्वरूप वे पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करके जीव को शरीर से सम्बद्ध कर देती हैं।

जैन दर्शन भी अन्य भारतीय विचारधाराओं के समान अविद्या को बन्धन का कारण मानता है। अविद्या के कारण उसका वास्तविक स्वरूप तो अवरुद्ध होता ही है, उसमें मिथ्या दर्शन भी उत्पन्न होता है, परिणामस्वरूप उसमें अविरति एवं प्रमाद आता है। अपने स्वाभाविक स्वरूप के ज्ञान एवं शुभ-अशुभ के विषय में उदासीनता ही क्रमशः अविरति एवं प्रमाद है। जीव में अविरति एवं प्रमाद से

क्रोध, मान, माया, लोभ कुप्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। इन्हें कषाय कहते हैं। ये कषाय योग द्वारा कर्मपुद्गल को जीव से संयुक्त करते हैं। जैन दर्शन में योग का प्रयोग कायिक, वाचिक एवं मानसिक स्पन्दनों के लिए होता है। इनके द्वारा जीव की ओर कर्मपुद्गल आकर्षित होते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग बन्धन के कारण है।

जीव की ओर कर्म पुद्गलों का प्रवाह 'आस्रव' कहलाता है। आस्रव बन्धन का कारण है, क्योंकि आस्रव के अभाव में कर्मपुद्गल जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। आस्रव के दो भेद हैं- भावास्रव और द्रव्यास्रव। जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश के पूर्व जीव के भावों में परिवर्तन होता है जिसे 'भावास्रव' कहते हैं। इसके बाद जीव में कर्म पुद्गलों का प्रवेश हो जाना 'द्रव्यास्रव' है। जिस प्रकार तेल से लिप्त शरीर पर धूलराशि चिपक कर जमा हो जाती है उसी प्रकार कर्मपुद्गल जीव पर चिपक जाते हैं। तेल से लिप्त होना भावास्रव और उस पर धूलराशि का चिपक जाना द्रव्यास्रव है।

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कषायों के कारण कर्मानुसार जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन है। बन्धन के भी दो भेद प्राप्त होते हैं- भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश के पूर्व उसमें भावास्रव उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् जीव का जो बन्धन होता है, वह भावबन्ध है। इसके बाद कर्मपुद्गलों का प्रवेश होने पर जीव में द्रव्यास्रव उत्पन्न होता है। उसके बाद जीव का जो बन्धन होता है उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं।

जीव का कर्मपुद्गलों से वियोग मोक्ष है। कर्मपुद्गलों से जीव का वियोग होने के लिए दो चीजें आवश्यक हैं- नये कर्मपुद्गलों का जीव की ओर आस्रव बन्द हो जाय और जीव में प्रविष्ट हुए पुराने कर्मपुद्गलों का विनाश हो जाय। इनमें से प्रथम अवस्था संवर है और द्वितीय अवस्था निर्जरा है। संवर से नये कर्मपुद्गलों का जीवात्मा में प्रवेश करना निरुद्ध हो जाता है। संवर के दो भेद प्राप्त होते हैं- भावसंवर और द्रव्यसंवर। भावसंवर द्रव्यसंवर की पूर्ववती अवस्था है जिसमें जीव के राग-द्वेष मोहरूप विकारों का निरोध होता है। द्रव्यसंवर में जीवात्मा में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार संवर में जीव राग, द्वेष, मोह, आदि विकारों से रहित हो जाता है जिससे उसमें नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश तथा उससे होने वाला बन्धन रुक जाता है।

संवर की अवस्था में जीवात्मा में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश तो बन्द हो जाता है, किन्तु आत्मा में पहले से ही प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का निरोध संवर से नहीं होता। अतः केवल संवर से ही जीवात्मा कर्मपुद्गलों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जीवात्मा में पहले से प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गल भी नष्ट हो जाय। जीवात्मा में पहले से ही प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का विनाश निर्जरा है। निर्जरा के भी दो भेद हैं- भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। साधक में भाव-निर्जरा में कर्मों का नाश करने की भावना उत्पन्न होती है। द्रव्य-निर्जरा में आत्मा में प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का वास्तविक नाश

होता है। इसमें दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र के अभ्यास से जीवात्मा में प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का विनाश किया जाता है। जब कर्मपुद्गल का अन्तिम कण भी जीवात्मा से पृथक् हो जाता है तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। इस प्रकार जीव के सभी कर्मों का क्षय मोक्ष है- कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। मोक्ष अभावात्मक अवस्था नहीं है। वह एक भावात्मक अवस्था है। इसमें केवल दुःखनिवृत्ति ही नहीं होती, अपितु वह इसमें अपनी स्वाभाविक पूर्णता अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द को भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान की भी अवस्था है।

सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र, मोक्ष के मार्ग माने जाते हैं। जैन दर्शन की मोक्षमीमांसा में इन तीनों का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष के साधन हैं। इसलिए जैन दार्शनिक इन्हें 'त्रिरत्न' कहते हैं। इन तीनों साधनों का पृथक्-पृथक् वर्णन अग्रांकित है-

1. सम्यक् दर्शन- जैन दर्शन के धर्म एवं इसके तीर्थकरों के उपदेशों में दृढ़ विश्वास सम्यक् दर्शन है। इसकी आवश्यकता संशय के निवारण के लिए होती है। सम्यक् दर्शन का उदय दर्शनावरणीय कर्मों के विनाश से होता है।

2. सम्यक् ज्ञान- जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान सम्यक् दर्शन है। इसमें जीव और अजीव के मूल तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान होता है। यह तत्त्वों का असन्दिग्ध एवं दोषरहित ज्ञान है। ज्ञानावरणीय कर्मों के विनाश से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है।

3. सम्यक् चरित्र- सम्यक् ज्ञान को कर्म में परिणत करना सम्यक् चरित्र है। अहितकारी कर्मों का परित्याग और हितकारी कर्मों का आचरण ही सम्यक् चरित्र है। यह जैन साधना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि मनुष्य सम्यक् कर्म से ही कर्ममुक्त होकर जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, इन पाँच व्रतों के पालन का उपदेश है। जैन दर्शन में इन व्रतों के दो रूप हैं- 'महाव्रत' और 'अणुव्रत'। महाव्रत का विधान जैन संन्यासियों के लिए है और अणुव्रत का विधान गृहस्थों के लिए।

1. अहिंसा- जैन साधना के पंचव्रतों में अंहिसा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ऐसा माना जाता है कि भारत में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रथम उद्घोष जैन ने ही किया था। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है, मन, वाणी और कर्म, तीनों से होने वाली हिंसा का परित्याग। जैन दर्शन में अहिंसा का अर्थ केवल दूसरों को हानि पहुँचाने से बचना ही नहीं है, अपितु उनके उपकार में सचेष्ट रहना भी है।

2. सत्य- इसका अर्थ है, 'असत्य वचन का परित्याग'। इस व्रत का पालन करने के लिए मनुष्य को भय, लोभ एवं परनिन्दा की प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिए।

3. अस्तेय- चौरवृत्ति का वर्जन अस्तेय है। जैन दर्शन के अनुसार बिना दिये पर द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैन दर्शन के जीवन की भाँति उसकी सम्पत्ति को भी अत्यन्त पवित्र मानता है। वे इसे व्यक्ति का बाह्य जीवन कहते हैं। इस प्रकार वे परद्रव्य ग्रहण को भी जीव-हिंसा ही मानते हैं।

4. ब्रह्मचर्य- जैन दर्शन वासनाओं के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह केवल इन्द्रिय-सुख का परित्याग नहीं है, अपितु सभी कामनाओं का परित्याग है।

5. अपरिग्रह- विषयासक्ति का परित्याग अपरिग्रह है। जैन दर्शन के अनुसार मुमुक्षु को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषयों का परित्याग करना चाहिए। जैन संन्यासी से पूर्ण अपरिग्रह की अपेक्षा की गयी है। वह किसी भी वस्तु को, भिक्षापात्र को भी अपना नहीं कह सकता।

जैन दर्शन के अनुसार जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का अनुसरण करते हुए समस्त कर्मबाधाओं को दूर करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। जैन दर्शन की विशेषता उसका व्यावहारिक उपदेश है। किन्तु इसके द्वारा बतायी गयी साधना अत्यन्त कठोर है। अपनी कठोरता के कारण ही यह सामान्य जन का धर्म नही बन सका। इसके द्वारा साधुओं के लिए बतायी गयी साधना तो कठोर है ही, गृहस्थों के लिए निर्धारित की गयी साधना भी अपेक्षाकृत कठोर है। यह अपनी कठोरता के कारण मुनियों का ही धर्म बन कर रह गया। जैन दर्शन द्वारा महाव्रत एवं अणुव्रत के रूप में आचार-पद्धति का विभाजन कृत्रिम है। इससे जैन धर्म और अधिक अव्यावहारिक हो गया।

अभ्यास प्रश्न

1. जैन दर्शन में मोक्ष है

(क) आवागमन से मुक्ति (ख) दिये का बुझना

(ग) जीव का कर्मपुद्गलों से वियोग (घ) परमात्मा की प्राप्ति

2. जैन दर्शन में कर्म है

(क) लक्ष्य प्राप्त करने का कारण (ख) अर्हत् पद प्राप्त करने का करण

(ग) बन्धन का कारण (घ) जैन दर्शन में प्रवृत्त होना

3. बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म हैं-

(क) नाम कर्म (ख) अन्तराय कर्म

(ग) मोहनीय कर्म (घ) आयुष्कर्म

4. जीव की ओर कर्म पुद्गलों का प्रवाह -------- कहलाता है।

5. जीव और कर्मपुद्गलों का संयोग होना -------- है।

3.5 सारांश:-

इस इकाई को पढने के बाद आप यह जान चुके हैं कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा में द्रव्य की विशिष्ट अवधारणा है। जीव एवं अजीव इन दो भागों में विभाजित द्रव्य विश्व के अणु से अणुतम एवं महान से महत्तम तत्त्वों की व्याख्या में पूर्णतया सक्षम हैं। इसी प्रकार इनकी आचारमीमांसा जिस प्रकार कर्मबन्ष्?धन एवं मोक्ष की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करती है वह विश्व दर्शन चिन्तन परम्परा में सर्वथा अनूठा है। इसी क्रम में संन्यासी एवं गृहस्थों की आचार पद्धति का भी यहॉ चिन्तन प्राप्त होता है। जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से साधु एवं गृहस्थ की आचार पद्धति की व्याख्या करते हैं किन्तु दानों के लिये यह पद्धति अत्यन्त कठोर है। अस्तु, इस इकाई के अध्ययन से आप तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के अनुशीलन से इस वस्तुवादी एवं बहुत्ववादी दर्शन के सार्वभौमिक चिन्तन को अत्यन्त सहजता से समझ कर अपने ज्ञान को अभिव्यक्त कर पाएंगे।

इस इकाई के अध्येयन से आप कार्व्यानुशीलन द्वारा सहज ही प्राप्ता होने वाले फलों और उपादानों की अनुभूति को अभिव्य क्तय कर सकेंगे।

3.6 शब्दावली:-

सापेक्षतावादी- यह चिन्तन की एक ऐसी विधा है जिसमें चिन्तक जगत् के किसी भी वस्तु की सत्ता का निषेध नहीं करते बल्कि किसी भी वस्तु की सत्ता अथ वा सत्यता का निर्धारण किसी भिन्न वस्तु की अपेक्षा करते हैं।

अनन्तधर्मात्मक- जैन दर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है क्योंकि इस लोक में अनेक वस्तुए हैं तथा प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं- अनन्तधर्मकं वस्तु।

पुरुष बहुत्व- सांख्य दर्शन में अनेक पुरुष की अवधारणा है। इसी लिये उसमें पुरुष बहुत्व की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। सांख्य के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त पुरुष दूसरा मूल तत्व है।

अस्तिकाय- अस्तिकाय का अर्थ है विस्तार युक्त, सत्तायुक्त होने से यह अस्ति है तथा शरीर के समान विस्तारयुक्त होने के कारण यह काय कहलाता है।

अनस्तिकाय- अस्तिकाय का विपरीत अनस्तिकाय होता हैं। इसका सामान्य अर्थ है एकदेशव्यापी होना। जैन दर्शन में काल एकमात्र एकदेशव्यापी द्रव्य है।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

3.3 1. क, 2. ख, 3. ख, 4. घ, 5. ग, 6. ख

3.3. 1. ग 2. ग 3. ख 4. आस्रव 5. बन्धन

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,
2. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
3. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
4. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ
5. पं0 सुखलाल, प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) (1939)
6. मेहता, मोहनलाल, जैन दर्शन, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लाहामंडी, आगरा
7. उमा स्वामी, तत्वार्थाधिगम सूत्र (सुखलाल संघवी कृत विवेचन), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5
8. मिश्र, पंकज कुमार (1998), वैशेषिक एवं जैन तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का स्वरूप, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर दिल्ली।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न:-

(क) जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा में द्रव्य का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत करें।

(ख) जैन दर्शन धर्म एवं अधर्म की तुलना करते हुए इनकी विशेषता पर प्रकाश डालें।

(ग) जैन आचार मीमांसा के वैशिष्ट्य पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।

(घ) जैन दर्शन में बन्धन के स्वरूप को स्पष्ट करे

इकाई 4 - चार्वाक दर्शन का परिचय एवं सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा
4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 चार्वाक दर्शन का परिचय
    4.3.1 भूमिका
    4.3.2 चार्वाक दर्शन के उल्लेख
    4.3.3 चार्वाक दर्शन विभिन्न नाम एवं उनके अर्थ
    4.3.4 चार्वाक दर्शन के साहित्य
4.4 चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त
    4.4.1 चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा
    4.4.2 चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना:-

चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध प्रथम तथा इस ब्लॉक की चतुर्थ इकाई में आपकी जानकारी के लिये यहॉ सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन के परिचय एवं सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा रहे हैं, इस विश्वास के साथ कि प्रायः कम प्रचलित यह वाद आपके ज्ञान को अभिवृद्ध कर पाएगा। भारतीय दार्शनिक चिन्तक की सामान्य एवं विशिष्ट प्रायः समस्त धारा का एकमात्र अपवाद चार्वाक दर्शन है। सामान्य रूप से इस 'नास्तिक दर्शन शिरोमणि' कहा जाता है, जबकि विशिष्ट रूप से यह 'भौतिकवाद का चरम' माना जाता है। नास्तिक वेद की निन्दा करने वाले, परलोक को न मानने वाले तथा ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करने वाले होते हैं तथा चार्वाक दर्शन नास्तिकता के तीनों गुणों से युक्त है, कदाचित् यही कारण है कि दर्शन का यह सम्प्रदाय 'नास्तिक शिरोमणि' कहलाता है। साथ ही, अन्य समस्त भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विरुद्ध केवल इस जगत् के दृश्य तत्त्व, परम सुख, विषय, इच्छा, कामना की ही बात करने के कारण यह ''भौतिकवाद का चरम'' कहलाता है।

4.2 उद्देश्य:-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- बता सकेंगे कि चार्वाक दर्शन का उल्लेख कहॉ कहॉ किया गया है?
- समझ सकेंगे कि चार्वाक दर्शन का निहितार्थ क्या है?
- जान पाएंगे कि इस दर्शन के समुपलब्ध साहित्य कौन कौन से है?
- समझ सकेंगे कि चार्वाक दर्शन के मौलिक सिद्धान्त क्या क्या हैं?

4.3 चार्वाक दर्शन:-

उक्त सन्दर्भ में नास्तिक की अवधारणा को यहाँ आवश्यक रूप से समझ लिया जाना चाहिए। मनुस्मृति में वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहा गया है- नास्तिको वेदनिन्दकः (2/11)। पाणिनि ने परलोक को मानने वाले को आस्तिक कहा है तथा न माननेवाले को आस्तिक कहा है- अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (अष्ट0 4/4/60)। किन्तु समान्य चिन्तन में अनीश्वरवादी को नास्तिक कहा जाता है।चार्वाक दर्शन के उदय का मूल कारण कदाचित् उपनिषद् दर्शन का उच्च विज्ञानवाद, वैदिक कर्मकाण्ड की अतार्किकता तथा उसका दुरुपयोग, यज्ञों में पशु बलि प्रथा, तात्कालिक सामाजिक व राजनीतिक अव्यवस्था एवं अस्थिरता का विरोध था।चार्वाक, लोकायत अथ वा बार्हस्पत्य दर्शन प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का प्रतिनिधित्व करता है। निस्सन्देह चार्वाक के भौतिकवाद की

तथाकथित परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं भारतीय दर्शन। इस क्रम में यहॉ यह स्मरणीय है कि भौतिकवादी प्रवृत्ति के बीज उपनिषदों में भी देखे जा सकते हैं। यहॉ भौतिकवाद से तात्पर्य है वह विचारधारा जिसके अनुसार विश्व का मूलभूत तत्त्व एक या अनेक रूप, जड़ात्मक है। भौतिकवादी जड़त्व से भिन्न किसी चेतन तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। यही चार्वाक वस्तुत्त्व है।

4.3.1 चार्वाक दर्शन के उल्लेख:-

एक व्यावहारिक सत्य है कि अच्छा तभी अच्छा है जब बुरा होगा, इसी प्रकार बुरा तभी बुरा होगा जब अच्छा विद्यमान होगा। दूसरे शब्दों में, कोई भी एक वाद समाज या शास्त्र में तभी पनपेगा जब विरोधी कोई दूसरा विरोधी वाद विद्यमान होगा। इस आधार पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक परम्परा का विरोधी वाद भी वैदिक काल में अवश्य ही रहा होगा। कदाचित् इसी वाद ने चार्वाक का स्वरूप ग्रहण किया होगा।

ऋग्वेद में इस भौतिकवाद का बीज ढूॅढा जा सकता है। वहाँ इन्द्र की सत्ता में सन्देह करने वाले तथा तथा अपव्रती लोगों का उल्लेख प्राप्त होता है। परोक्षतः चार्वाकीय सिद्धान्त का हम इसे बीज कह सकते हैं। भौतिकवादी प्रवृत्ति के बीज उपनिषदों में भी देखे जा सकते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में ऐसी अनेक धारणाओं की गिनती दी गयी है जो संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयास करती हैं। इनमें से एक जगत् का मूल का कारण भूत को मानता है। इसी तरह कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि धन के मोह से मूढ़, बालबुद्धि, प्रमादी व्यक्तियों को परलोक के मार्ग में आस्था नहीं होती, वह केवल इस लोक को मानता है, परलोक को नहीं, ऐसा व्यक्ति पुनः पुनः मेरे वश में आता है (कठ0 1/2/6)। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रजापीत और इन्द्र-विरोचन संवाद में उल्लेख है कि असुरों का प्रतिनिधि विरोचन देहात्मवाद से ही सन्तुष्ट होकर चला गया था।(छान्दोग्य0 8-7) प्रत्यक्षतः इस वाद का उल्लेख प्रायः सारे महत्त्वपूर्ण साहित्य में प्राप्त होते हैं। बौद्ध पिटकों में लोकायत मत का नाम्ना उल्लेख है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में सांख्य और योग के साथ लोकायत दर्शन का तर्क पर आधारित दर्शन के रूप में उल्लेख है। चार्वाक दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थ 'बार्हस्प्त्य सूत्र' या 'लोकायतिक सूत्र' नाम से जाना जाता है। इस पर लिखी गयी भागुरी या वर्णिका नाम की टीका का उल्लेख पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य मे प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण मिश्र विरचित नाटक प्रबोधचन्द्रोदय के द्वितीय अंक में यह उद्धरण प्राप्त होता है कि बृहस्पति ने जिस शास्त्र की रचना करके चार्वाक को समर्पित किया था उसका विस्तार चार्वाक तथा उनके शिष्यों के द्वारा किया गया है।

4.3.3 चार्वाक दर्शन के विभिन्न नाम एवं उनके अर्थ:-

इससे पूर्व के विवरण में चार्वाक मत से सम्बद्ध कई नामों की चर्चा की गयी है। चार्वाक, लोकायत तथा बार्हस्पत्य- ये तीन इनके नाम प्राप्त होते हैं। चार्वाक शब्द के कई अर्थ प्राप्त होते हैं। सामान्य अवधारणा है कि चार्वाक चारु-वाक् अर्थात् मिष्टभाषी का संक्षिप्त रूप है। इसका अभिप्राय वह व्यक्ति है, जिसकी वाणी या वचन चारु या मनोहारिणी है। इसमें स्पष्टतः यह संकेत है कि जनसामान्य में यह दर्शन सहज स्वीकृत था। एक अन्य धारणा के अनुसार चार्वाक शब्द चर्व- चबाने या खाने धातु से बना है। इसके अनुसार चार्वाक मौज, मस्ती खाने-पीने मात्र में विश्वास करते थे।

लोकायत अर्थात् लोक + आयत का तात्पर्य जनसामान्य में प्रचलित होना है। हरिभद्र ने लोकायत का अर्थ उन साधारण लोगों से किया जो विचारशून्य मूर्ख की तरह आचरण करते हैं। राधाकृष्णन् की दृष्टि में लोकायत भौतिकवाद के लिये सुसंस्कृत पद है। आयत का अर्थ आयतन अर्थात् आधार मानकर यह भी कहा जाता है कि लोकायत का अर्थ इस मूढ़ एवं लौकिक संसार का आधार है। एक अन्य अनुमान के अनुसार लोकायत एक तकनीकी शब्द है जिसका तात्पर्य विवाद, वितण्डा एवं कुतर्क का विज्ञान है। ऐसा इस कारण कहा गया है कि यह दर्शन छलपूर्ण वाद विवाद में रुचि लेता है और विभिन्न विषयों पर पारम्परिक दृष्टिकोण को चुनौती देता है।

बार्हस्पत्य नाम से अभिप्राय है कि इस दर्शन के प्रणेता बृहस्पति थे। यद्यपि इसका कोई निश्चित साक्ष्य नहीं है कि बृहस्पति इस दर्शन के प्रणेता थे। पुनरपि परवर्ती उपनिषद् में एक कथा प्राप्त होती है कि बृहस्पति ने असुरों को नास्तिक विद्या का उपदेश दिया था कि इसके प्रभाव से असुरों का नाश हो तथा इन्द्र निष्कण्टक अमरावती पर राज्य कर सकें।

4.3.4 चार्वाक दर्शन के साहित्य:-

दुर्भाग्य से इस दार्शनिक सम्प्रदाय का कोई भी ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। इस दर्शन के सिद्धान्तों व धारणाओं को जानने व समझने के लिये हमें पूर्णतः इसके विरोधियों के द्वारा दी गयी जानकारी पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जयराशि भट्ट विरचित तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ को छोड़कर इस मत का कोई मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थ भी बहुत बाद का है जिसका प्रकाशन 1940 ई0 में हुआ है। किन्तु इस विषय में यह एक अनिवार्य सत्य है कि कोई भी ग्रन्थ, भले ही वह किसी सम्प्रदाय का हो, चार्वाक के कतिपय आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख एवं उनका खण्डन किये बिना अपने को पूर्ण नहीं मानता। इस आधार पर एक सामान्य निर्णय यह अवश्य ही लिया जा सकता है कि प्रायः हर

दार्शनिक ग्रन्थ इस वाद का एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत बन जाता है। पुनरपि, चार्वाक दर्शन के मतों को प्रसारित करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका सर्वदर्शनसंग्रह, प्रबोधचन्द्रोदय तथा बार्हस्प्त्यसूत्र की रही है।

अभ्यास प्रश्न-

1. चार्वाक के अन्य नाम हैं-

(क) बार्हस्पत्य तथा लोकायत (ख) लोकायत तथा पाशुपत

(ग) पाशुपत तथा बार्हस्पत्य (घ) चार्वाक एवं पाशुपत

2. चार्वाक दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थ किस नाम से जाने जाते है?

3. चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध किन्हीं तीन ग्रन्थों के नाम बताएँ।

4. लोकायत का अर्थ है-

(क) जनसामान्य में प्रचलित होना (ख) सुन्दर वचन

(ग) लोगों का घर (घ) लोक वचन

4.4 चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त

4.4.1 चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा:-

भारतीय दर्शन चिन्तन में चार्वाक दर्शन ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से प्रत्यक्षवादी, तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से भौतिकवादी और आचारमीमांसा की दृष्टि से सुखवादी विचारधारा है। इसकी विचारधारा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष इसका ज्ञानमीमांसीय प्रत्यक्षवाद है। अन्य समस्त भारतीय दर्शन के विपरीत चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है और अन्य प्रमाणों का निषेध करता है। वस्तुतः इसके ज्ञानसिद्धान्त का जितना विशिष्ट पक्ष एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की स्वीकृति है, उतना ही विशिष्ट पक्ष अन्य प्रमाणों, विशेषतः 'अनुमान प्रमाण' का खण्डन भी है। उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन के चार्वाकेतर सम्प्रदाय प्रमा के साधन के रूप में प्रत्यक्ष के साथ अनुमान प्रमाण के प्रामाण्य में अवश्य विश्वास करते हैं। चार्वाक दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान का एकमात्र प्रामाणिक साधन है प्रत्यक्ष- प्रत्यक्षमेकं प्रमाणम्। चार्वाक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की वैधता को स्वीकार नहीं करता।

प्रत्यक्ष के विषय में चार्वाकों के द्वारा दी गयी कोई भी स्पष्ट परिभाषा प्राप्त नहीं होती। प्रायः वे भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञानेन्द्रिय एवं विषय के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं- चक्षुः, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वक्। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द यह पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। सुख, दुःख आदि का अनुभव भी इस पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर ही आश्रित है।

चार्वाक में प्रत्यक्ष प्रमाणविषयक चिन्तन की स्पष्टता को इस पकार समझा जा सकता है कि रूप के अभाव में जो अदृष्ट है, रस के अभाव में जो अनास्वादित है, गन्ध के अभाव में जो अनाघ्रात है, स्पर्श के अभाव में जो अस्पृष्ट है तथा शब्द के अभाव में जो अश्रुत है ऐसा चिन्तन केवल कल्पनाओं में ही हो सकता है, यथार्थ में नहीं। प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने का कारण इस प्रमाण में प्राप्त अभ्रान्तता और निश्चयात्मकता है जो प्रत्यक्षेतर प्रमाणों में सम्भव नहीं है।

अनुमानविषयक चार्वाक चिन्तन- जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, कि चार्वाक के द्वारा प्रवर्तित प्रत्यक्ष की परिभाषा प्राप्त नहीं होती। किन्तु इसके द्वारा किया अनुमान का खण्डन सर्वाधिक प्रसिद्ध है। अनुमान का यह खण्डन मध्वविरचित सर्वदर्शनसंग्रह में प्राप्त होता है। तदनुसार-दृष्ट हेतु से अदृष्ट साध्य की सिद्धि करना अनुमान है, पर्वत पर दृष्ट धूम के ज्ञान से पर्वत पर अदृष्ट अग्नि का ज्ञान करना अनुमान है। अनुमान का आधार व्याप्ति है। यह व्याप्ति हेतु और साध्य, लिंग और लिंगी के बीच साहचर्य का नियम है। चार्वाक का इस विषय में कहना है कि अनुमान में दूसरे की उपस्थिति से एक की उपस्थिति का निश्चय किया जाता है। यह तभी सम्भव है जब दोनों वस्तु की नित्य सहवर्तिता का दृढ निश्चय हो। जैसे- धूम और अग्नि का सम्बन्ध- जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य है। किन्तु तथ्य यह है कि ऐसा नियम बनाया नहीं जा सकता। पुनः पुनः निरीक्षण करने से केवल यह सिद्ध होता है कि धुएँ की कुछ घटनाएँ अग्नि की घटनाएँ होती हैं, लेकिन धुएँ की सभी घटनाएँ अग्नि की घटनाएँ नहीं हो सकतीं क्योंकि इस बात की पूरी संभावना है कि ऐसी घटनाएँ हमारे निरीक्षण में आने से रह जाएँ। परिणामतः संशय के लिये सदैव स्थान बना रहता है और अनुमान की प्रामाणिकता स्थापित नहीं होती। प्रामाणिक अनुमान की तथाकथित घटनाओं- जहाँ धुएँ से अग्नि का अनुमान किया गया और उस स्थान पर जाने पर यथार्थ अग्नि दिखी- को संयोग ही कहा जा सकता है।

चार्वाक दार्शन का यह स्पष्ट कथन है कि धूम और अग्नि के बीच व्याप्य-व्यापक-भाव की कल्पना निराधार एवं तर्कविरुद्ध है, क्योंकि इस प्रकार के तर्कवाक्यों को प्राप्त करने का कोई वैध साधन नहीं है। चूँकि व्याप्ति हेतु और साध्य का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, अतः चार्वाकों की मान्यता है कि अनुमान तभी निश्चयात्मक एवं निर्दोष हो सकता है जब व्याप्ति निर्दोष एवं वास्तविक हो। किन्तु व्याप्ति के विषय में निश्चायक रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग होती है- हम

इस व्याप्ति ज्ञान को केवल तभी निश्चायक एवं प्रमाणिक मान सकते हैं जब हम प्रत्यक्ष से धूम्रयुक्त सभी पदार्थों को अग्नियुक्त जान सकें। किन्तु यह बिल्कुल असम्भव है कि हम भूत एवं भविष्य के सभी धूमवान् स्थलों को अग्नियुक्त देख सकें।

प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल वर्तमान से है और हम वर्तमान समय में भी सभी धूमवान पदार्थों को अग्नियुक्त नहीं जान सकते। पुनः, यदि इस प्रकार की व्याप्ति आज सत्य भी हो तो यह भविष्य में भी सत्य होगी- इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्षानुभव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, परिणामस्वरूप वह हमें किसी भी सामान्य सम्बन्ध (व्याप्ति) का ज्ञान नहीं करा सकता। चार्वाक का यह भी कहना है कि प्रत्यक्ष के आधार पर धूमत्व एवं वह्नित्व का ज्ञान नहीं हो सकता।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष से केवल विशेषों का ही ज्ञान होता है, सामान्य का नहीं। जब हमारा सारा ज्ञान विशेषों तक ही सीमित है तो हमें विशेषों की सीमा का अतिक्रमण करने का कोई अधिकार नहीं है विशेषों से सामान्य की कल्पना हमारी बुद्धि की भ्रान्त कल्पना है, वास्तविक ज्ञान नहीं है। धूमत्व एक जाति या सामान्य है जो सभी धूमवान पदार्थों में विद्यमान रहता है। अतः जब तक सभी धूमवान एवं वह्निमान पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होगा, तब तक उनके सामान्य धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः कुछ स्थलों पर धूमत्व एवं वह्नित्व के प्रत्यक्ष से धुएँ और अग्नि के मध्य सामान्य सम्बन्ध (व्याप्ति) की स्थापना सम्भव नहीं है।

पुनः, व्याप्ति हेतु और साध्य का निरुपाधिक नियत साहचर्य सम्बन्ध है। चार्वाक का कथन है कि प्रत्यक्ष द्वारा निरुपाधिक सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव नहीं है। उपाधि दो प्रकार की होती है- आशंकित और निश्चित। यदि उपाधि निश्चित है, जैसे, अग्नि एवं धुएँ में, तो व्याप्ति अवैध होगी। यदि उपाधि की आशंका है तो भी व्याप्ति वैध नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि हम दो वस्तुओं में साहचर्य को देखकर यह नहीं कह सकते कि उनका साहचर्य निरुपाधिक है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार अनुमान और शब्द प्रमाण भी व्याप्ति को सत्यापित नहीं कर सकते हैं। अनुमान प्रमाण से व्याप्ति को स्थापित करना इसलिए असम्भव है, क्योंकि जिस अनुमान के द्वारा हम इसकी स्थापना करेंगे वह भी व्याप्ति पर निर्भर होगा। इस प्रकार हमारा तर्क अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होगा। इस प्रकार एक अनुमान के सत्यापन के लिए किसी अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी और उस अनुमान के लिए किसी अन्य अनुमान की। अनुमान की यह परम्परा धारावाहिक रूप में बनी ही रहेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष का भी प्रसंग उपस्थित होगा। व्याप्ति की स्थापना शब्द प्रमाण से भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रथमतः, शब्द ज्ञान का प्रामाणिक साधन नहीं है और द्वितीय, शब्द प्रमाण के आधार पर व्याप्ति को स्थापित करने के प्रयास में अनुमान शब्द प्रमाण पर निर्भर हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अनुमान ज्ञान का स्वतन्त्र साधन नहीं रह जायेगा। पुनः, कारण-कार्य नियम के आधार पर भी

व्याप्ति को स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारण-कार्य का सार्वभौम नियम स्वयं एक व्याप्ति है। इस प्रकार चार्वाकों का कथन है कि व्याप्ति की स्थापना किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं है।

इस प्रकार चार्वाक अनुमान प्रमाण की वैधता एवं निश्चयात्मकता में सन्देह व्यक्त करते हैं। उनका यह भी कथन है कि अनुमान को वैध प्रमाण तभी माना जा सकता है जब इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान संशयरहित एवं वास्तविक हो। किन्तु अनुमान में इसका सर्वथा अभाव होता है, यद्यपि कुछ अनुमान आकस्मिक रूप से (संयोगवश) सत्य होते हैं। चार्वाक की शब्द प्रमाणविषयक मान्यता- भारतीय दर्शन के प्रायः सारे दार्शनिक सम्प्रदायों में शब्द

प्रमाण को भी यथार्थ ज्ञान का साधन माना जाता है। आप्त पुरुषों के वचनों एवं श्रुतियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द प्रमा कहते हैं और इसे उपलब्ध कराने वाले असाधारण साधन को 'शब्द प्रमाण' कहते हैं। सारी आस्तिक दर्शन परम्परा में वेदों को प्रमाण माना जाता है। चार्वाक दर्शन ने शब्द प्रमाण का भी खण्डन किया है। किसी पुरुष के आप्त और लोकोपकारक होने के कारण उसके वाक्यों में श्रद्धा रखना अनुमान से सम्भव है, यह अनुमान स्वयं प्रमाण नहीं है। इसलिये अनुमानाश्रित शब्द को भी प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। यदि आप्त पुरुष प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों का वर्णन करते हैं तो यह वर्णन प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आ जाता है। यदि वे अदृष्ट अश्रुत अज्ञात पदार्थों का वर्णन करें तो इसे उनकी कल्पनामात्र समझा जा सकता है यथार्थ नहीं।

चार्वाक की यह भी मान्यता है कि आप्त पुरुषों के द्वारा उच्चरित शब्दों से ज्ञानप्राप्ति होती है, अतः उसे श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही मानना चाहिए, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं। पुनः, आप्त पुरुषों के शब्द प्रत्यक्ष विषयों के बोध पर्यन्त ही प्रामाणिक माने जा सकते हैं। यदि उनसे अप्रत्यक्ष विषयों के बोध की धारणा प्रस्तुत की जाती है तो उनका प्रामाण्य सन्दिग्ध हो जाता है, क्योंकि उन विषयों का प्रामाण्य प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। पुनः, चार्वाकों का विचार है कि शब्द से प्राप्त सभी ज्ञान अनुमानसिद्ध हैं। चूँकि अनुमान की ही प्रामाणिकता सन्दिग्ध है इसलिये अनुमान की तरह शब्दप्रमाण की भी प्रमाणिकता सन्दिग्ध है।

चार्वाक वेदों की प्रामाणिकता का सर्वथा निषेध करते हैं। वे वेदों को असत्यता, पुनरुक्ति एवं असंगति दोषों से युक्त कहते हैं। वे वेदों को धूर्त पुरोहितों की कृति मानते हैं। वैदिक यागादि कर्मों में भी उनका विश्वास नहीं है। इन कर्मों को वह धूर्तजनों का कृत्य मानते हैं तथा एक प्रकार से वे उन जनों की जीविका का भी उसे साधन मानते हैं। इनका मानना है कि श्राद्धादि कर्मों से मृत व्यक्ति तृप्त नहीं हो सकता। ये ईश्वर, आत्मा, वेद, परलोक, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य आदि को भी स्वीकार नहीं करते। इनकी दृष्टि में, इनसे प्रायः स्वर्ग, नरक, यज्ञ, आत्मा, परमात्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। चूँकि इस ज्ञान को प्रत्यक्ष द्वारा सत्यापित नहीं किया जा सकता, अतः ये प्रमाण नहीं हो

सकते। उपमान प्रमाणविषयक मान्यता- चार्वाक उपमान की प्रामाणिता को भी अस्वीकार करते हैं। चूँकि उपमान का आधार सादृश्य ज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। अतः चार्वाक इसके लिए किसी स्वतन्त्र प्रमाण को आवश्यक नहीं मानते। पुनः, कतिपय भारतीय विचारक भी उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में ही करते हैं। अतः अनुमान के अप्रामाणिक होने से उपमान भी अप्रामाणिक हो जाता है।

इस प्रकार अन्य भारतीय दर्शन परम्परा में स्वीकृत अनुमान, शब्द और उपमान प्रमाणों के अप्रामाणिक होने के कारण चार्वाक ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण बचता है।

समीक्षा- चार्वाक दर्शन की प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा के विरुद्ध भारतीय दर्शन परम्परा के अन्य सम्प्रदायों में प्रबल प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि इसने भारतीय ज्ञानमीमांसा में न केवल एक नयी विचारधारा को जन्म दिया प्रत्युत समकालीन समस्त विचारधारा की सनातन स्थापना को सर्वथा परिवर्तित कर दिया। परिणामतः इसे अन्य विचारधारा के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। अन्य दार्शनिकों ने चार्वाक के ज्ञानसिद्धान्त के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किया-

(1) चार्वाक दर्शन ने प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण स्वीकार करके तथा इतर प्रमाणों का खण्डन करके बौद्धिक दर्शन चिन्तन के विरुद्ध अपना स्वर मुखर किया। उनके उक्त चिन्तन की सबने उपेक्षा की तथा कहा कि इस चिन्तन के आधार पर विश्व में किसी भी प्रकार की तार्किक व्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। एकमात्र प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व से केवल खण्डित ज्ञान सम्भव है, उसकी एकता का नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से उन्हें जोड़ने वाले किसी अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

(2) चार्वाक के प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता भी निर्विवाद नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर है। ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति की सीमा ही प्रत्यक्ष के निर्दुष्टत्व का निर्धारण करती है। निर्दुष्ट प्रत्यक्ष के लिए ज्ञानेन्द्रियों का अनुकूल होना भी परम आवश्यक है। ज्ञानेन्द्रियों के प्रतिकूल होने पर प्रत्यक्ष भी सदोष हो जाता है। रज्जु में सर्प की प्रतीति, बालू में जल का आभास आदि दोषपूर्ण प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं। इस प्रकार अनुमान के प्रमाणत्व के खण्डन का आधार ही दूषित होने के कारण प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान का खण्डन नहीं किया जा सकता है। प्रत्यक्ष की सीमाओं पर बिना विचार किये उसे ही एकमात्र प्रामाणिक ज्ञान घोषित करके चार्वाक ने रूढ़िवाद एवं अन्धविश्वास को ही बढ़ावा दिया है।

(3) जैन दार्शनिकों का कथन है कि चार्वाकों द्वारा अनुमान प्रमाण का खण्डन आत्मघातक है। उनके अनुसार चार्वाक विचारकों द्वारा प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण घोषित करना, परलोक, आदि प्रत्यक्ष

विषयों के बारे में किसी भी प्रकार का विवेचन करना, अन्य मतों पर विचार करना तथा अपने सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करना मानो प्रच्छन्न रूप से अनुमान को स्वीकार करना ही है।

(4) चार्वाक विचारकों द्वारा व्याप्ति का निषेध अनुचित है। बौद्ध विचारकों की स्पष्ट मान्यता है कि दो वस्तुओं को जोड़ने वाले सामान्य विचार को तब तक सत्य मानना पड़ेगा जब तक वह सर्वस्वीकृत है। साथ ही वह दैनन्दिन जीवन के किसी स्थापित नियम पर आधारित है। किसी मान्य कथन का विरोध व्यावहारिक जीवन के मूल को ही उखाड़ना है।

उल्लेखनीय है कि चार्वाक विचारक भी पूर्णतः व्याप्ति का खण्डन नहीं कर पाते हैं। उनकी यह मान्यता कि 'प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है', अनुमान प्रमाण नहीं है, उनकी इस आस्था की ओर संकेत करता है कि कतिपय दृष्टान्तों में व्याप्ति सम्भव है, क्योंकि यह आगमनात्मक सामान्यीकरण का फल है।

(5) चार्वाक कृत अनुमानखण्डन का अन्य भारतीय दार्शनिकों ने प्रबल खण्डन किया है। उनके अनुसार बुद्धि द्वारा अनुमान का खण्डन नहीं हो सकता। समस्त बुद्धि-विकल्प कार्य कारणादि नियमों पर आधारित है जिनकी सार्वभौमता, निश्चितता और अनिवार्यता, स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश आत्मतत्त्व से आती है। इन बुद्धि विकल्पों के बिना किसी प्रकार का बुद्धि व्यवहार सम्भव नहीं होता।

(6) यद्यपि सभी विचारक शब्द स्वीकार नहीं करते तथापि आप्त वचन को नितान्त अग्राह्य घोषित करना सांसारिक व्यावहारिक एवं सामाजिक, नैतिक व्यवस्था को निर्मूल कर सकता है।

पुनरपि ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में चार्वाक के अवदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसकी ज्ञानमीमांसा ने भारतीय विचारकों के समक्ष अनेक समस्याएँ उत्पन्न कीं जिनके समाधान के कारण भारतीय दर्शन पुष्ट एवं समृद्ध हुआ। पुनः, चार्वाक विचारकों ने भारतीय दर्शन को रूढ़िवादी एवं अन्धविश्वासी होने से बचाया। इसके ज्ञानमीमांसा का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष भारतीय चिन्तन के बहुआयामी दृष्टिकोण एवं वैचारिक स्वतन्त्रता का प्रतिनिधित्व करना है।

4.4.2 चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा:-

चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा उसकी ज्ञानमीमांसा की ही उपसिद्धि है। अपने प्रत्यक्षवादी ज्ञान-सिद्धान्त के आधार पर चार्वाक केवल उन्हीं तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करते हैं जिनका प्रत्यक्ष होता है। वे इस ज्ञान-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में केवल जड़ तत्त्व या भौतिक पदार्थ की ही सत्ता को स्वीकार करते हैं, क्योंकि केवल उसी का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से जड़वादी या भौतिकवादी है। इनके ज्ञात तत्त्वमीमांसीय तथ्य इस प्रकार हैं-

(1) चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति।

(2) शरीरेतर नित्य आत्मतत्त्व का निषेध।

(3) ईश्वर तत्त्व का निषेध।

(1) चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति- चार्वाक के तत्त्वचिन्तन में चार महाभूतों की ही स्वीकृति है- पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। आकाश का अनुमान होता है, अतः चार्वाक उसे तत्त्व नहीं मानते। पुनः वह इन महाभूतों को केवल स्थूलरूप मानता है। वह उनके अणुरूपत्व का निषेध करता है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। वह इन जड़ तत्त्वों के तन्मात्रत्व को भी नहीं स्वीकार करता क्योंकि तन्मात्रत्व के विचार का भी आधार अनुमान है।

चार्वाक दार्शनिकों की मान्यता है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि इन्हीं चारों भूतों से हुई है। ये ही जगत् के उपादान कारण हैं। इन भूतों का विभिन्न अनुपातों में सम्मिश्रण होने से बाह्य जगत्, भौतिक शरीर, चेतना, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उत्पन्न होती हैं। रूप, रस, गन्ध आदि गुणों की उत्पत्ति भी इन्हीं के संयोग से होती है। इनके संयोग के लिए किसी निमित्त कारण की आवश्यकता नहीं होती। जड़ तत्त्व अपने स्वभाव के अनुसार ही संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है।

(2) शरीरेतर नित्य आत्मतत्त्व का निषेध- चार्वाक का मानना है कि चैतन्य भी भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण होने से जीवित शरीर में उत्पन्न होता है। अतः जीवित शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। चार्वाक दर्शन के अनुसार शरीर से भिन्न किसी पृथक् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। शरीर का चेतना से युक्त होना ही आत्मतत्त्व कहलाने के लिए पर्याप्त है। चैतन्य का प्रत्यक्ष भी शरीर के अन्तर्गत होता है। अतः 'चेतना से विशिष्ट शरीर' ही आत्मा है। व्यक्ति प्रत्यक्ष के आधार पर भी शरीर और आत्मा के तादात्म्य का अनुभव करता है। मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,- ये कथन मैं (आत्मा) और शरीर के तादात्म्य का ही बोध कराते हैं।

इस प्रकार चार्वाक जड़ तत्त्वों के आधार पर आत्मा की भी व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार जड़तत्त्वों से शरीर भी उत्पन्न होता है और उसमें पाया जाने वाला चैतन्य भी। यद्यपि जड़तत्त्वों में चैतन्य का अभाव है, तथापि उनके सम्मिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार मदिरा के विभिन्न घटकों में से किसी में भी मादकता नहीं है लेकिन उनमें विशेष प्रक्रिया से विकार उत्पन्न होने पर मादकता उत्पन्न होती है उसी प्रकार जड़तत्त्वों के विशेष सम्मिश्रण से चेतना उत्पन्न होती है- किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्। इस प्रकार चेतन शरीर से भिन्न आत्मा का कोई प्रमाण नहीं है।

साथ ही चेतन शरीर के आत्मत्व के कारण आत्मा की अमरता भी सम्भव नहीं है। आत्मा की अनित्यता यह सिद्ध करती है किं आत्मा से जुड़ी सभी अवधारणाएँ- पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक एवं कर्मयोग-निराधार हैं।

(3) ईश्वर तत्त्व का निषेध- चार्वाक दर्शन ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है। प्रायः आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों के रक्षक तथा सृष्टि के कर्त्ता, नियामक एवं संरक्षक के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाती है। चार्वाक आध्यात्मिक, धार्मिक, एवं नैतिक मूल्यों को मानसिक भ्रान्ति कहता है। वह सृष्टि की व्याख्या के लिए भी ईश्वर को आवश्यकता नहीं मानता। वह ईश्वर की कल्पना को एक धार्मिक भ्रान्ति कहता है। चूँकि ईश्वर का कोई प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः ईश्वर का अस्तित्व भी नहीं है। उसके लिए ईश्वर जैसे किसी निमित्त कारण की भी आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार, चूँकि जड़तत्त्वों के आन्तरिक स्वभाव से ही संसार की उत्पत्ति होती है। अतः वह स्वभाववादी या यदृच्छावादी है।

समीक्षा- चार्वाक दर्शन के जड़वादी सिद्धान्त के विरुद्ध आस्तिक दर्शनों में तीव्रतम प्रतिक्रिया हुई। जैन एवं बौद्ध सदृश नास्तिक दर्शनों ने भी चार्वाकों की तत्त्वमीमांसा को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया। भारतीय दर्शनों में चार्वाक तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप प्राप्त होते हैं-

(1) चार्वाक दर्शन की यह मान्यता अनुचित है कि एकमात्र जड़तत्त्व सृष्टि की व्याख्या के लिए पर्याप्त है। जड़तत्त्व सृष्टि का उपादान कारण मात्र हो सकता है, किन्तु सृष्टि के उद्भव कारण न। जिस प्रकार कुम्भकार की सहायता के बिना मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता उसी प्रकार चेतन निमित्त कारण (ईश्वर) के बिना ये सृष्टि नहीं हो सकती।

(2) चार्वाक दर्शनके आत्मसिद्धान्त के विरुद्ध अन्य भारतीय दर्शनों ने प्रबल प्रहार किया। उसके आत्म सिद्धान्त के विरुद्ध अधोलिखित आक्षेप प्राप्त होते हैं-

(क) चैतन्य विशिष्ट शरीर को आत्मा कहना अनुचित है। आत्मा में चेतना और शरीर का तादात्म्य मानना भी अनुचित है। यदि चैतन्य का अर्थ स्वचैतन्य है जो मनुष्यों में है तो इसका तादात्म्य जीवित शरीर से नहीं किया जा सकता। यदि चेतना और शरीर के साहचर्य को नित्य भी मान लिया जाय तो भी यह नहीं सिद्ध होता है कि चेतना शरीर का धर्म है।

(ख) यदि चेतना शरीर का आवश्यक गुण होती तो उसे शरीर से अवियोज्य होना चाहिए तथा उसे शरीरपर्यन्त उसके साथ सम्बद्ध होना चाहिए। किन्तु यह यथार्थ है कि मूर्च्छा या स्वप्नरहित निद्रा में शरीर चेतना से शून्य दिखाई देती है।

(ग) यदि चेतना वस्तुतः शरीर का धर्म होती तो उसका वैसा ही ज्ञान दूसरों को भी होना चाहिए जैसा हमें होता है। किन्तु एक व्यक्ति की चेतना उसका निजी गुण है। अतः उसका जैसा ज्ञान उस व्यक्ति को होता है वैसा दूसरों को नहीं हो सकता।

(घ) शरीर स्वयं भी एक साधन है, अतः उसे वश में रखने वाले चेतन की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि चेतना शरीर में नहीं, अपि तु शरीर के नियन्त्रणकर्त्ता में है। इस प्रकार भौतिकवादी की स्थिति स्वयं उसके विरुद्ध जाती है।

(ङ) चेतना शरीर का गुण नहीं हो सकता। यदि चेतना शरीर का गुण होगी तो शरीर का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर, जो स्वयं चेतना का आधार है, चेतना द्वारा नहीं जानी जा सकती। अतः चेतना शरीर का गुण नहीं हो सकती।

(च) जड़तत्त्वों से चेतना की उत्पत्ति नहीं दिखाई देती। जड़तत्त्व से चेतना के उत्पन्न होने का अर्थ है कि असत् से सत् की उत्पत्ति। किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्तुतः शून्य से शून्य ही उत्पन्न होता है, कोई वस्तु नहीं।

(छ) यदि चेतना शरीर का गुण है तो अन्य भौतिक गुणों के समान चेतना का भी प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता।

(3) मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ- इन कथनों से चार्वाक दर्शन शरीर को ही आत्मा सिद्ध करना चाहता है। इन कथनों से केवल यह सिद्ध होता है कि शरीर के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो 'शरीर आत्मारहित है' इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इन दोषों के बावजूद चार्वाक तत्त्वमीमांसा का प्रचलित विश्वासों पर पर्याप्त प्रभाव रहा। इसने भूतकाल के प्रति लगाव और भविष्य के आकर्षण को भंग किया। किन्तु, जब वह गंभीर चिंतन करता है तो वह भौतिकवाद से दूर चला जाता है। आश्चर्य है कि चार्वाक दर्शन ने यही कार्य नहीं किया।

अभ्यास प्रश्न

1. चार्वाक दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान का एकमात्र प्रामाणिक साधन है

(क) प्रत्यक्ष (ख) अनुमान
(ग) उपमान (घ) शब्द

2. चार्वाक के अनुसार शब्द प्रमाण नहीं है, क्योंकि
(क) यह एक प्रकार से प्रत्यक्ष ही है (ख) यह अनुमानाश्रित है

(ग) शब्द आकाश का गुण है (घ) यह उपमानाश्रित है

3. चार्वाक उपमान प्रमाण का निषेध करता है, क्योंकि उसका मानना है कि

(क) अनुमान और उपमान एक ही है

(ख) प्रत्यक्ष उपमान से भिन्न नहीं है

(ग) उपमान का आधार सादृश्य ज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है

(घ) उपमान भी प्रमाण हो सकता है।

4. चार्वाक केवल उन्हीं तत्वों को स्वीकार करता है

(क) जिनका अनुमान होता है (ख) जिनका उपमान होता है

(ग) जिनका शब्द होता है (घ) जिनका प्रत्यक्ष होता है

5. चार्वाक आध्यात्मिक, धार्मिक, एवं नैतिक मूल्यों को क्या कहता है ?

4.5 सारांश:-

इस इकाई को पढने के बाद आप यह जान चुके हैं कि चार्वाक के चिन्तन को सार्वभौमिक रूप में प्रवर्तित करने के लिये किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ अथ वा साहित्य की रचना नहीं की गयी। बल्कि विभिन्न दार्शनिक स्रातों तथा कुछ परवर्ती रचनाओं से इसके बिखरे सिद्धान्तों को हम समझ पाए। इन्हीं स्रोतों के द्वारा चार्वाकविषयक कुछ विचारों को हम एकत्रित कर पाए। इनकी तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को समझने लिये आज एकमात्र उपलब्ध समग्र कृति सर्वदर्शनसंग्रह है। इस पाठ में प्रस्तुत समीक्षा यह दर्शाती है कि चार्वाक ने स्थापित मान्य सिद्धान्त को न केवल अस्वीकार किया बल्कि अपके दुर्धर्ष तर्कों से उनका खण्डन भी किया। इस इकाई के अघ्ययन से आप चार्वाक दर्शन के परिचय एवं सिद्धान्त से सहज ही अवगत हो पाएंगे साथ ही उन्हें अभ्सिव्यक्त भी कर पाएंगे।

4.6 शब्दावली:-

साध्य- वह परोक्ष तत्व, जिसका अनुमान किया जाना है, साध्य है। इसे व्यापक तथा अनुमेय भी कहते हैं।

लिंग- लीनम् अर्थं गमयति इति लिंगम्। इस प्रकार लीन अर्थात् परोक्ष साध्य का जो ज्ञान कराये वह लिंग है। इसे हेतु भी कहते हैं।

व्याप्ति- हेतु का साध्य के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है।

हेतु- व्याप्ति के कारण किसी स्थान विशेष में साध्य की सत्ता प्रमाणित करने वाला साधन हेतु है। इसे लिंग भी कहते हैं।

आप्तपुरुष- आप्त यथार्थ वक्ता को कहते हैं। यह आप्त वाक्य आप्त पुरुष के द्वारा ही सम्भव है। या यथार्थ वाक्यों का प्रयोग करने वाला आप्त पुरुष कहलाता है।

4.7अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

4.3 1. क, 2. बार्हस्पत्य सूत्र, 3. बार्हस्पत्य सूत्र, तत्त्वोपप्लवसिंह तथा सर्वदर्शन संग्रह 4. क

4.4 1. क 2. ख 3. ग 4. घ 5. मानसिक भ्रान्ति

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,
2. तिवारी, डॉ0 नरेश प्रसाद, (1986), चार्वाक का नैतिक दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
3. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
4. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
5. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न:-

(क) चार्वाक दर्शन के विभिन्न नाम एवं उनके अर्थो को स्पष्ट करें।

(ख) चार्वाक के प्रमाणविषयक चिन्तन पर एक निबन्ध लिखें।

(ग) चार्वाक की अनुमान विषयक अवधारणा को स्पष्अ करें।

(घ) चार्वाक के प्रमाण चिन्तन पर समीक्षा करें।

(ड) चार्वाक की तत्वमीमांसा का सार प्रस्तुत करते हुए उसकी समीक्षा करें।

इकाई 5 - चार्वाकी सिद्धान्तों की अन्य भारतीय दर्शनों में आंशिक उपस्थिति

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 चार्वाक दर्शन और आस्तिक सम्प्रदाय
5.3.1 वेद में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.2 उपनिषद् में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.3 गीता में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.4 न्याय वैशेषिक में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.3.5 अद्वैत वेदान्त में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.4 चार्वाक दर्शन और नास्तिक सम्प्रदाय
5.4.1 जैन दर्शन में चार्वाक की उपस्थिति
5.4.2 रसेश्वर दर्शन में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना:-

चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध यह द्वितीय तथा इस समग्र ब्लॉक की यह पॉचवीं इकाई है। इससे पूर्व के पाठ में आपने चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों का सविस्तर ज्ञान प्राप्त किया।

इस पाठ में आप चार्वाक दर्शन के विषय में यह जानेंगे कि इसका उल्लेख हम सामान्यतया किन अन्य दार्शनिक विचारधारा में पाएँगे। वस्तुतः इससे पूर्व की चर्चा से आप इतना अवश्य ही जान गये होंगे कि इस विशिष्ट दर्शन का अन्य भारतीय दर्शन की तरह इस दर्शन का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यदि कोई ग्रन्थ था भी तो वह उपलब्ध नहीं होता। इस स्थिति में हम अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित उद्धरणों से इसके सिद्धान्तों को जान पाते हैं। किन्तु यहॉ हम सविशेष अन्य भारतीय दर्शनों में विद्यमान परिचर्चाओं में चार्वाक की स्थिति को आधार बनाकर इस पाठ का परिवर्धन करेंगे।

5.2 उद्देश्य:-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- बता सकेंगे कि सामान्यतया अन्य किन किन भारतीय दर्शनों में चार्वाक चिन्तन प्राप्त होता है।
- समझ पाएंगे कि चार्वाक दर्शन की स्थिति अन्य भारतीय दर्शनों में कैसी है।
- साथ ही, अन्य दर्शनों से इसके मत वैभिन्य को भी जान पाएंगे।

5.3. चार्वाक दर्शन और आस्तिक सम्प्रदाय:-

भारतीय दर्शन की आस्तिक विचारधारा के विभिन्न सम्प्रदायों में चार्वाक दर्शन की आंशिक उपस्थिति की यहॉ परिचर्चा की जाएगी।

5.3.1 वेद में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति:-

यद्यपि नाम्ना वेद में चार्वाक का उल्लेख प्राप्त नहीं होता तथापि अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के समान ही चार्वाक के सिद्धान्तों का भी बीज यहाँ अवश्य ही दिख जाता है। कई ऐसे विषय हैं जो परवर्ती चार्वाक के सिद्धान्तों के अत्यन्त निकट हैं। तद्यथा- चार्वाक दर्शन का मूल चिन्तन भूत चैतन्य की स्थापना में निरत है। वेद में भी इसकी तार्किक स्थापना देखी जा सकती है। वेद में, यज्ञ की एक अधिष्ठात्री देवता की कल्पना की जाती है। यहाँ तक कि प्रत्येक वस्तु के लिये उक्त देवता की कल्पना की जाती है। यह कल्पना कदापि मौलिक नहीं की जा सकती, ऐसा समालोचकों का मानना है (आनन्द झा, चार्वाक दर्शन, पृ0 400)। इस प्रकार प्रत्येक वैदिक भौतिक सम्बोधन-स्थल को देवता की कल्पना

के द्वारा अभूत चैतन्य का ज्ञापक नहीं बनाया जा सकता। इसलिये भूतचैतन्य-स्थापक सन्दर्भों एवं कथनोपकथनों से समग्र वैदिक कर्मकाण्ड व्याप्त होने के कारण यही उचित मानना प्रतीत होता है कि समग्र वैदिक कर्मकाण्ड चार्वाक सम्मत भूतचैतन्य को ही मान्यता देता हुआ प्रतीत होता है। ध्यातव्य है कि एतदर्थ वेद में कहीं भी भूत शब्द का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार भूतचैतन्य प्रधानक चार्वाक सिद्धान्त सर्वथा वैदिक है अवैदिक नहीं एवं अतिप्राचीन है आधुनिक नहीं।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में इन्द्र की सत्ता में सन्देह करने वाले तथा अपव्रत लोगों का उल्लेख है। वहाँ आस्तिक, व्रती लोगों की प्रशंसा तथा यज्ञविहीन अव्रती लोगों की निन्दा है।

5.3.2 उपनिषद् में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति:-

उपनिषद् वैदिक ज्ञानकाण्ड का सार है। इसे भारतीय दर्शनों का मूल स्रोत माना जाता है। प्रायः समस्त दार्शनिक विचारधाराओं का प्रतिबिम्बन इसमें प्राप्त होता है। यद्यपि इन समस्त उपनिषदों में सांख्य, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत प्रभृति आस्तिक विचारधाराओं का ही सर्वाधिक सम्पोषण हुआ है। पुनरपि, ऐसा नहीं है कि इसमें आस्तिक विचारधारा के विरुद्ध तथा चार्वाकी विचारधारा के अत्यन्त सन्निकट चिन्तन अवश्य ही प्राप्त नहीं होता है। अतः उपनिषद् में भी कहीं यदि चार्वाक का बीज प्राप्त हो जाए तो यह असम्भव नहीं। उदाहरणार्थ ईशावास्योपनिषत् के छठे मन्त्र में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति सारे भूतों अर्थात् प्राणियों में आत्मदृष्टि रखता है और आत्मा में समग्र भूतदृष्टि रखता है वह किसी में भी घृणा या भेदभाव करता नहीं -

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

इस मन्त्र का निहितार्थ यह है कि इस में भूतात्मवाद की ही विशेषता वर्णित हुई है जो चार्वाक दर्शन का सार है। केनोपनिषद् में इसी भूतात्मवाद के समर्थन में यह कहा गया है कि '' इस चराचरात्मक भौतिक संसार को यदि सत्य समझा तो ठीक है और यदि ऐसा नहीं समझा तो समझो महान् विनाश प्राप्त है। प्रत्येक भूत को आत्मा समझने वाला ही मर कर अमृत होता है।'' तद्यथा-

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्मॉल्लोकादमृता भवन्ति।।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि धन के मोह से मूढ, बालबुद्धि, प्रमादी व्यक्तियों को परलोक के मार्ग या साधन में आस्था नहीं होती, वह केवल इस लोक को मानता है, परलोक को नहीं, ऐसा व्यक्ति बार बार मेरे अर्थात् यम या मृत्यु के वश में आता है (1/2/6)। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रजापति और इन्द्र विरोचन संवाद में उल्लेख है कि असुरों का प्रतिनिधि विरोचन देहात्मवाद से ही सन्तुष्ट होकर चला गया था (8-7)।

5.3.3 गीता में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति:-

गीता जो भारतीय चिन्तन परम्परा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, कभी भी चार्वाक मत के प्रतिपादन अथ वा समर्थन में कुछ नहीं कहती। ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए भी यदि आनुषंगिक रूप में यहॉ चार्वाक सिद्धान्त के समर्थक कुछ बातें मिल जायें तो चार्वाक सिद्धान्त के लिये उन बातों का महत्त्व अत्यधिक होगा।

वस्तुतः गीता की समस्त पृष्ठभूमि ही चार्वाकीय चिन्तन है। उपदेश्य अर्जुन जहॉ युद्ध को हिंसा समझते हैं उपदेशक कृष्ण इसके विपरीत यह स्थापित करते हैं कि युद्ध क्षत्रियों के लिए पापात्मक हिंसा नहीं प्रत्युत उसके विपरीत धर्मात्मक सदाचरण है। इससे साररूप में यह निर्णय उपस्थित किया गया है कि आचरण की अच्छाई एवं बुराई का मूल्यांकन परिस्थिति के आधार पर करणीय है। परिस्थिति ही उसका मापदण्ड है। मरण की समानता को लेकर युद्धगत वीरवध तथा अयुद्धगत प्राणिवध को एक समान मानना उचित नहीं। यदि विचार कर के देखा जाये तो इस प्रकार के आचरणगत अनैकान्तिक निर्णय के कारण ही धर्म की ऐकान्तिकतावादियों ने राजनीति एवं उसके दर्शनभूत चार्वाकीय दृष्टिकोण की निन्दा की है तथा उसके प्रति घृणा का भाव फैलाया है। अतः यह मानना होगा कि गीता पर चार्वाक दृष्टिकोण का प्रभाव अवश्य है।

इसी तरह द्वितीय अध्याय के 42वें पद्य से लेकर 45वें पद्य पर्यन्त पारम्परिक वेदवाद की निन्दा की गयी है। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो इस प्रसंग में विस्तारपूर्वक वर्णित चार्वाकीय वेदवाद के ऊपर ही आक्षेप उपस्थित किया गया है। चतुर्थ अध्याय के 21वें पद्य में यतचित्तात्मा शब्द में प्रयुक्त आत्म शब्द का प्रयोग शरीर अर्थ में किया गया है। शंकराचार्य ने भी इसका अर्थ शरीर ही किया है। पंचम अध्याय के 7वें पद्य में विजितात्मा का अर्थ शरीर लिया गया है शरीरातिरिक्त आत्मा नहीं। आचार्य शंकर ने भी इसका अर्थ विजितदेह अर्थात् अपने देह पर विजय पाने वाला किया है। ध्यातव्य है कि चार्वाक शरीरात्मवाद को ही मानता है। ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि गीता चार्वाक मत से भले ही पूर्णतः नहीं किन्तु आंशिक रूप से अवश्य ही प्रभावित है। अठारहवें अध्याय के 48वें पद्य में कहा गया है कि कोई भी कर्म यदि सहज हो तो सदोष होने पर भी अर्थात् किसी कारणवश अनुचित माने जाने पर भी सहसा उसे नहीं छोड़ देना चाहिए। अर्थात् कोई भी कार्य परित्याज्य नहीं है।

इस प्रकार निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि यहाँ चार्वाकीय विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

5.3.4 न्याय में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति:-

न्याय दर्शन वस्तुतः प्रमाण पर आधारित एक वस्तुवादी दर्शन है। वस्तुतः दर्शन क्षेत्र में प्रमाणमीमांसीय क्रान्ति लाने का श्रेय भी इसी दर्शन को जाता है। यह कह पाना कि न्याय दर्शन में चार्वाक मत का समर्थन या समन्वय हुआ है तो यह शोध का विषय हो सकता है, किन्तु अपने मत के समर्थन में तथा अपने मत की स्थापना के लिये अन्य मत के खण्डन के क्रम में इस विचारधारा की आंशिक उपस्थिति देखी जा सकती है। तद्यथा- न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में आत्मा की स्थापना के क्रम में चार्वाक के शरीरात्मवाद का खण्डन प्राप्त होता है- ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह-

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।।

वस्तुतः विश्वनाथ ने यहाँ चार्वाक के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता है। शरीर को ही आत्मा मानने पर यह आपत्ति हो सकती है कि मृत अवस्था में शरीर बना रहता है फिर चैतन्य क्यों नहीं रहता? इस पर चार्वाक का कहना है कि न्याय-वैशेषिक के मत में यह माना जाता है कि मुक्त अवस्था में चैतन्य का अभाव मान लिया जाएगा, क्योंकि जिस प्रकार प्राणाभाव न्याय-वैशेषिक के मत में मुक्त दशा में ज्ञान के अभाव का कारण है, इसी प्रकार हमारे मत में भी प्राणाभाव ही मृत शरीर में ज्ञानाभाव का कारण हो जाएगा।

इसी प्रकार आस्तिक नास्तिक विवेचन प्रसंग में, न्याय भाष्य में वात्स्यायन ने एक दृष्टान्त देते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि चार्वाक नास्तिक नहीं थे। वात्स्यायन का मानना है कि ''नास्तिक यदि दृष्टान्त को मानेगा तो वह नास्तिक नहीं रह पाएगा और यदि वह दृष्टान्त को नहीं मानेगा तो किसके सहारे वह अपना विरोधी पक्ष का खण्डन करेगा?''- नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति। अनभ्युपगच्छन् किं साधनः परमुपालभेत?- न्यायदर्शन, वात्स्यायनभष्य।

इस कथन से यही सिद्ध होता है कि नास्तिक वही कहलाता होगा जो दृष्टान्त नहीं मानता होगा। दृष्टान्त को न मानने का अर्थ होता है प्रत्यक्ष को न मानना। किन्तु चार्वाक प्रत्यक्ष को तो मानता ही था बिना किसी दृष्टान्त का वह अपने विचारों का भी प्रवर्तन नहीं करता था। इस प्रकार किसी न किसी रूप में न्याय वैशेषिक दर्शन में चार्वाक की आंशिक उपस्थिति देखी जा सकती है।

5.3.5 अद्वैत वेदान्त में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति:-

ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य लिखकर शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त का प्रवर्तन किया था। किन्तु अपनी इस विचारधारा का विश्लेषण उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों में भी किया। ब्रह्मसूत्र के ही अध्यास प्रकरण में उन्होंने चार्वाक का उल्लेख लोकायत कहकर किया है। इससे इतना स्पष्ट है कि आचार्य शंकर चार्वाक या लोकायत की विचारधारा से पूर्णतया अवगत थे।

इसके अतिरिक्त शंकराचार्य के अन्य ग्रन्थ ''सर्वसिद्धान्त संग्रह'' में भी चार्वाक विचार का पर्याप्त विस्तार मिलता है। यद्यपि इस विषय में सन्देह है कि यह आद्यशंकराचार्यविरचित है किन्तु जब तक कोई प्रबल बाधक नहीं प्राप्त होता तब तक इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। शंकराचार्य ने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण का ''लौकायतिक पक्ष प्रकरण'' नाम दिया है-

लौकायतिकपक्षे तु तत्वं भूतचतुष्टयम्।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुरित्येव नापरम्।। 298

इस प्रकरण में शंकराचार्य ने लौकायतिक विचारधारा का स्वरूप वर्णन इस प्रकार किया है- ''लौकायतिक पक्ष में तो पृथिवी जल, तेज और वायु ये चार ही तत्व हैं, और नहीं। प्रत्यक्षगम्य ही वस्तुए मान्य हैं, अदृष्ट मान्य नहीं हैं, क्योंकि यहॉ देखा जाता नहीं। जो लोग अदृष्ट मानते हैं वे भी उसे दृष्ट अर्थात् देखी जाने वाली वस्तु कहॉ कहते हैं? यदि किसी ने उस अदृष्ट को देखा है तो फिर वे लोग उसे अदृष्ट क्यों कहते हैं? जिसे कभी कोई भी देख न पाये वह शशशृंग आदि के तुल्य होने के कारण ''सत्'' कैसे हो सकता? सुख और दुःख के सहारे भी धर्म ओर अधर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि लोग सुखी और दुखी स्वभावतः भी हो सकते हैं। अतः स्वभाव से अतिरिक्त और कोई सुख दुःख का कारण नहीं। मयूर के पंखों को भला कौन चित्रित करता है? कोकिलों को भला कौन मधुरकूजन सिखलाता है? मैं मोटा हूँ , मैं तरुण हूँ , मैं तो वृद्ध हो गया, मैं अभी युवक हूँ - इस प्रकार प्रतीतियॉ आत्मा के सम्बन्ध में होती हैं, अतः उक्त विशेषणों से युक्त शरीर ही है आत्मा। उससे भिन्न अन्य और कोई नहीं। भौतिक जड़ वस्तुओं में जो चेतना देखी जाती है उसे पान सुपारी चूना और खैर आदि के संयोग से होने वाले लाल रूप के समान सांयोगिक समझना चाहिए। इस लोक से अन्य कोई स्वर्ग या नरक नहीं है। शिव-लोक आदि की बातें वंचकों एवं अज्ञों की कल्पनामात्र हैं। युवती संगमज सुख के अतिरिक्त कोई स्वर्गीय अनुभव नहीं है। महीन कपड़े, सुगन्धित मालाए एवं चन्दन लेपन इत्यादि जनित सुखों को भी स्वर्गीय सुख कहा जा सकता है। मोक्ष मरण ही है और वह भी शरीर से होने वाले प्राणनिर्गमन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति को किसी प्रकार का आयास नहीं करना चाहिए। तप, उपवास आदि के द्वारा अपने को सुखाना अज्ञान का ही काम है। पातिव्रत्य, सुवर्णदान, भूमिदान, मन्त्रपूर्वक परिमार्जित भोजन आदि के औचित्य की कल्पना उन दुर्बलों के द्वारा

की गयी जो कि बुद्धिमान् थे और दारिद्र्य के कारण अपना पेट भरना चाहते थे। देवमन्दिर, जलपान, व्यवस्था, यज्ञ, कूप, उद्यान आदि की प्रशंसा भला पथिकों छोड़कर और कौन करता है? इसीलिये बृहस्पति ने अग्निहोत्र, वेदपारायण, त्रिदण्डधारण, भस्मलेपन आदि को बुद्धि एवं सामर्थ्यहीन व्यक्तियों की जीविका बतलाया है। इसलिये बुद्धिमानों को चाहिए कि खेती, पशुपालन, वाणिज्य एवं दण्ड नीति आदि दृष्ट उपायों द्वारा सांसारिक भोगों का अनुभव करें।'' (आनन्द झा, चार्वाक दर्शन, पृ0 446-447)

इस सन्दर्भ में, वेदान्तिक दृष्टि से शंकराचार्य के द्वारा चार्वाक के मतों के समर्थन का विश्लेषण यहॉ आवश्यक है। ध्यातव्य है कि शंकर ने चार्वाक के इन मतों का उल्लेख खण्डन के लिये किया है मान्यता देने के लिये नहीं। किन्तु उनके इस मत वर्णन में कुछ ऐसी बातें अवश्य कही गयी है जिससे उसके अतिप्राचीन स्वरूप का एवं मान्यता का आभास प्राप्त होता है। बिन्दुशः इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

(क) शंकराचार्य ने सर्वमतसंग्रह में लोकायत पक्ष न कहकर इसके लिये लौकायतिक पक्ष उद्धृत किया है जिससे एक सुव्यवस्थित एवं दीर्घकालिक लोकादृत विचारधारा की अनुभूति होती है।

(ख) बृहस्पति के सन्दर्भ में उदधृत मत, कि अग्निहोत्र आदि कुछ असमर्थों के जीविकार्थ प्रवर्तित है, में अग्निहोत्र आदि की अकरणीयता नहीं बतलायी गयी है। क्योंकि व्यावहारिक रूप से जीवनोपाय सर्वार्थ आवश्यक है।

(ग) सार रूप में कथित यह वाक्य कि बुद्धिमानों को चाहिए कि खेती, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार आदि को अपनाकर सुखी बनें, से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोकायत विचारधारा अति प्राचीन काल में उच्छृंखल नहीं, पूर्णसंयत एवं सुशृंखल थी।

अस्तु, लक्ष्य या विषय कुछ भी हो किन्तु शंकराचार्य के द्वारा चार्वाक दर्शन के मतों का इस प्रकार उद्धृत किया जाना निस्सन्देह चार्वाक के विषय में व्याप्त आधुनिक विश्वास का प्रतीप रूप प्रवर्तित करता है। ऐसा नहीं है कि केवल शंकर ने ही चार्वाक का विरोध किया बल्कि अन्य दर्शन ने भी पुरजोर इसका विरोध किया।

अभ्यास प्रश्न

1. यज्ञ में कल्पना की जाती है

(क) वेद की (ख) एक अधिष्ठात्री देवी की

(ग) इन्द्र की (घ) सूर्य की

2. केनोपनिषद् में समर्थन मिलता है-

(क) देहात्मवाद का (ख) इन्द्रियात्मवाद का

(ग) भूतात्मवाद का (घ) इनमें से कोई नहीं

3. गीता के पॉचवें अध्याय में प्रयुक्त विजितात्मा शब्द का अर्थ शंकराचार्य ने लिया है-

(क) विजित देह (ख) विजित मन

(ग) विजित इन्द्रिय (घ) विजित चित्त

4. शंकराचार्य के द्वारा प्रवर्तित लोकायतिक विचारधारा का प्रवर्तन प्राप्त होता है-

(क) सर्वदर्शनसंग्रह (ख) षड्दर्शनसमुच्चय

(ग) सर्वार्थसिद्धि (घ) सर्वमतसंग्रह

5. विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में शरीरात्मवाद का खण्डन किया है। इस वाद का प्रवर्त्तन किया है-

(क) विश्वनाथ ने (ख) चार्वाक ने

(ग) शंकर ने (ग) महावीर ने

5.4 चार्वाक दर्शन और नास्तिक सम्प्रदाय:-

यद्यपि चार्वाक स्वयं नास्तिक सम्प्रदाय में परिगणित है तथापि कुछ अन्य नास्तिक विचारधारा हैं जो चार्वाक का तो विरोध करते ही हैं साथ ही, उनके मत को उद्धृत करते हुए उन मतों से सहमति भी प्रकट करते हैं। इसी सन्दर्भ में यहाँ नास्तिक विचारधारा में चार्वाक की उपस्थिति का अन्वेषण किया जा रहा है।

5.4.1 जैन दर्शन में चार्वाक की उपस्थिति:-

जैन दर्शन के आचार्य हरिभद्र सूरि विरचित षड्दर्शनसमुच्चय में चार्वाक एवं इसके सिद्धान्तों का विवरण प्राप्त होता है। यहॉ चार्वाक मत का स्वरूप इस प्रकार उपस्थित किया गया है-

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृतिः।

धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः।। षड्दर्शनसमुच्चय, चार्वाक मत

''अर्थात् लोकायतों का कहना है कि न देवों का अस्तित्व है और न निर्वृति अर्थात् स्वर्ग या अपवर्ग है। धर्म और अधर्म भी नहीं है और इसलिये उनके फल भी नहीं हैं। चार्वाक स्त्रियों से भी कहते हैं कि हे भद्रे! जितना तुम देखती हो या तुम्हारे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य है, उन्हें ही प्रामाणिक समझो। शास्त्र के आधार पर जो लोग स्वर्ग अपवर्ग , पाप पुण्य आदि का उपदेश देते हैं उसे तुम भयानक जंगली जानवर के पॉव के समान समझो-

एतावानेव लोकोयं यावानिन्द्रिगोचरः।
भद्रे! वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः।। षड्दर्शनसमुच्चय, चार्वाक मत

हे रमणी! खाओ, पीओ मौज करो जो बीत जाएगा वह तेरा नहीं होगा। गया समय फिर लौटता नहीं। जब तक यह शरीर वर्द्धिष्णु है फलतः युवावस्था युक्त है, तभी तक वास्तविक है। और पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये चार भूत ही हम चार्वाकियों के मत में तत्व हैं। ये स्वयं चैतन्य के आश्रय हैं। चार्वाक का यह भी मानना है कि पृथिवी आदि भूतों का संघात होने पर देहादि संभव होता है। मद्य के अंग भूत भात आदि के सड़ने से मदशक्ति के समान भौतिक देहों में आत्मता होती है अर्थात् चैतन्य होता है। इसलिये दृष्ट ऐहिक फलों को छोड़कर जो लोग अदृष्ट पारलौकिक फलों के लिये प्रवृत होते हैं यह उनकी अत्यन्त विमूढता है, अर्थात् अज्ञान है ऐसा चार्वाकियों का मानना है। साधनीय देवपूजन आदि आचरण और निवृति अर्थात् त्याग से जो कुछ लोगों को प्रसन्नता होती है वह शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं अतः वह निरर्थक है''-

साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात्परा न हि।। षड्दर्शनसमुच्चय,
चार्वाक मत (आनन्द झा, चार्वाक दर्शन, पृ0 446-447)

5.4.2 रसेश्वर दर्शन में चार्वाक दर्शन की उपस्थितिः-

यद्यपि रसेश्वर दर्शन को दार्शनिक प्रस्थान के रूप में सार्वभौमिक स्वीकृति नहीं है पुनरपि, सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने एक दर्शन प्रस्थान के रूप में इसे उद्धृत किया। समालोचकों की दृष्टि में माधवाचार्य ने वहॉ जिस रूप में इस विचारधारा का प्रवर्तन किया है वह किसी न किसी रूप में चार्वाकीय विचारधारा का ही विस्तार प्रतीत है। सर्वदर्शनसंग्रह के रसेश्वर दर्शन विवेचन प्रसंग में कहा गया है कि ''छः दर्शनों के'' अन्दर मुक्ति की बातें कही गयी ह वह सत्य है किन्तु शरीरपात अर्थात् मरण के अनन्तर। इसलिये अन्य दर्शनीय मुक्ति हस्तगत आमलक के समान प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं हो पाती।

इसलिये रसायनात्मक रस अर्थात् शुद्ध पारद के द्वारा शरीर की रक्षा करनी चाहिए अर्थात शरीर को नित्य बना लेना चाहिए-

षड्दर्शनेपि क्तिस्तु दशितापिण्डपातने।
करोमलकवर्त्मतापि प्रत्यक्षानोपपद्यते।।
तस्मात्ति रक्षत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः।।3।।

वहॉ ''अन्य दर्शनीय मुक्ति प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती'' इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रसेश्वर दर्शन भी प्रत्यक्ष को उसी प्रकार प्रमाण मानता है जिस प्रकार चार्वाक दर्शन। शरीर को नित्य मान लेने पर भूतात्मवाद, फलतः भूत चैतन्य स्वतः प्राप्त हो जाता है और प्रत्यक्ष मात्र प्रमाणता भी इस चिन्तन को स्वीकार है ही। ध्यातव्य है कि ये दोनों मौलिक सिद्धान्त ही चार्वाक के विशिष्ट सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार रसेश्वर दर्शन को जो परमेश्वर तादात्म्यवादी कहा गया है वह भी चार्वाक के महासमवायात्मक भूताद्वैत की तत्त्वता की मान्यता के साथ संगत हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न

1. वात्स्यायन के अनुसार नास्तिक का अर्थ है-

(क) आत्मा को नहीं मानने वाला (ख) ईश्वर को न मानने वाला

(ग) वेद की निन्दा करने वाला (घ) दृष्टान्त को नहीं मानने वाला

2. चार्वाक स्त्रियों को भी सम्बोधित करते प्रतीत होते हैं। यह उद्धरण हमे मिलता है-

(क) षड्दर्शनसमुच्चय में (ख) सर्वदर्शनसंग्रह में

(ग) न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में (घ) सर्वमत संग्रह में

3. समालोचकों की दृष्टि में चार्वाकीय विचारधारा का विस्तार है-

(क) जैन दर्शन (ख) बौद्ध दर्शन

(ग) सर्वदर्शन (घ) रसेश्वर दर्शन

4. ''अन्य दर्शनीय मुक्ति प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती'' इस कथन से यह प्रतीत होता है कि

(क) चार्वाक प्रत्यक्ष को नहीं मानता है

(ख) बौद्ध दर्शन ही प्रत्यक्ष को मानता है

(ग) रसेश्वर दर्शन प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है

(घ) इनमें से काई नहीं।

5. रसेश्वर दर्शन के अनुसार शरीर को नित्य बनाने के लिये किस तत्त्व से शरीर की रक्षा करनी चाहिए?

5.5 सारांश:-

इससे पूर्व की इकाई में आपने चार्वाक दर्शन के मूल सिद्धान्तों को जाना। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि चार्वाक विचारधारा किसी एक काल में किसी आकस्मिक घटना के कारण विकसित नहीं हुआ बल्कि यह विचारधारा वैदिक काल से ही समानान्तर रूप में चली आ रही है। यही कारण है कि वेद से लेकर समकालीन सारे दर्शन चिन्तन में इसकी उपस्थिति देखी जाती है। वेद में तो साथ साथ यह शास्त्रार्थ चलती दिखाई देती हैं। यास्काचार्य विरचित निरुक्त में तो कौत्स के प्रश्नों में स्पष्टतया इसका प्रतिबिम्बन देखा जाता है। अस्तु, इन दर्शनों में कहीं तो इसकी उपस्थिति विस्तृत रूप में देखी जाती है कहीं आंशिक रूप में। यह उपस्थिति या तो चार्वाक दर्शन के समर्थन में है तो कहीं उन उन दर्शनों में अपने मत की स्थापना क्रम में विरोधी लक्ष्य बनकर विद्यमान है। इसलिये प्राप्त उद्धरणों के आधार पर वेद, उपनिषद्, वेदान्त, न्याय वैशेषिक, जैन आदि दार्शनिक विचारधाराओं में चार्वाक की उपस्थिति का अन्वेषण किया गया है।

इस पॉचवें इकाई के अध्ययन से चार्वाक के मतों को जानकर आप अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने में सक्षम हो पाएँगे साथ ही यह भी जान पाएँगे कि अन्य दार्शनिक विचारधाराओं की दृष्टि में चार्वाक की स्थिति क्या है ?

5.6 शब्दावली:-

देहात्मवाद- जिस सिद्धान्त में देह अथ वा शरीर को आत्मा माना जाता है, उसे देहत्मवाद या शरीरात्मवाद कहा जाता है। ध्यातव्य है कि चार्वाक देह या शरीर को ही आत्मा मानते हैं।
भूतात्मवाद- देहात्मवाद या शरीरात्मवाद की तरह ही भूत अर्थात् प्राणी को आत्मा के रूप में मानना भूतात्मवाद है। **रसेश्वर-** माधवाचार्य विरचित सर्वदर्शनसंग्रह में नवम दर्शन के रूप में रसेश्वर को एक दर्शन माना है। इसे आयुर्वेद दर्शन भी कहा जाता है। इस में पारद अथ वा रस से जीवन्मुक्ति की बात कही जाती है। इसकी गणना माहेश्वर के चार सम्प्रदायों में की जाती है।

अध्यास- यह एक प्रकार का भ्रम है। अवास्तविक तत्त्व के ऊपर वास्तविक तत्त्व का आरोपण अध्यास है। यथा- सीपी के ऊपर रजत का आरोपण। यह अद्वैत वेदान्त के द्वारा प्रवर्तित एक चिन्तन है जिसके आधार पर वह ब्रह्म के अद्वैतत्व की स्थापना करते हैं।

अग्निहोत्र- वैदिक परम्परा में गृहस्थाश्रम में अनुष्ठीयमान एक विशिष्ट यज्ञ है। चार्वाक ने वैदिक कर्मकाण्ड पर वाचिक प्रहार के क्रम में अग्निहोत्र करने वाले को बुद्धि तथा पुरुषार्थ से रहित कहा है।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

5.3	1. ख,	2. ग,	3. क,	4. घ,	5. ख
5.4	1. घ,	2. क,	3.घ,	4. ग,	5. शुद्ध पारद

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,
2. तिवारी, डॉ0 नरेश प्रसाद, (1986), चार्वाक का नैतिक दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
3. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
4. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
5. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ
6. सर्वानन्द पाठक, चार्वाक षष्टि, नवनालन्दा विहार रिसर्च पब्लिकेशन्स

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न:-

(क) प्रारम्भिक दार्शनिक विचारधारा में चार्वाक दर्शन की आंशिक उपस्थिति को विस्तारपूर्वक समझाएं।

(ख) श्रीमद्भगवद्गीता में चार्वाक दर्शन की उपस्थिति पर एक निबन्ध लिखें।

(ग) नास्तिक विचारधारा में किस प्रकार चार्वाक के मत को ढूंढा जा सकता है ? सोदाहरण समझाएं।

(घ) रसेश्वर दर्शन के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए चार्वाक दर्शन के साथ उसके साम्य को स्पष्ट करें।

(ड) अन्य भारतीय दर्शन के विशिष्ट सन्दर्भ में चार्वाक के स्थान का निर्धारण करें।

इकाई 6 - चार्वाक दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक व सांसारिक जीवन से सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा
6.3.1 भूमिका
6.3.2 चार्वाक दर्शन की मोक्षविषयक अवधारणा
6.3.3 चार्वाक दर्शन की धर्मविषयक अवधारणा
6.3.4 चार्वाक दर्शन की कामविषयक अवधारणा
6.4 चार्वाक दर्शन के व्यावहारिक सिद्धान्त
6.4.1 रूढ़ि का विरोध
6.4.2 सुख का अन्वेषण
6.4.3 भोगार्थ ऋण की कामना
6.4.4 तनावमुक्ति के प्रयास
6.5 सारांश
6.6 शब्दावली
6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना:-

चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध यह तीसरी तथा इस समग्र ब्लॉक की यह छठी इकाई है। इससे पूर्व के पाठ में आपने चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों का सविस्तर ज्ञान प्राप्त किया। उसे जानकर आप निस्सन्देह चार्वाक की ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा को भली भॉति समझ लिया होगा। आपने यह भी जाना होगा कि अपनी मान्यता की स्थापना के लिये वे किसी भी शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते, परम्परा एवं शास्त्र के विरुद्ध जा सकते है। साथ ही, अपने तर्क को ही प्रधान मानते हैं। अस्तु, उक्त परिचर्चा से सर्वथा भिन्न इस इकाई में हम चार्वाक दर्शन की बहुचर्चित विचारधारा का न केवल सांसारिक जीवन से सम्बन्ध के विषय में जानेंगे प्रत्युत व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध तथा इसकी उपादेयता के विषय में भी जानने का प्रयास करेंगे।

6.2 उद्देश्य:-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- बता सकेंगे कि आज चार्वाक दर्शन क्यों प्रासंगिक है।
- समझ सकेंगे कि चार्वाक दर्शन रूढ़ियों का विरोध करता है, सुख को ही एकमात्र प्राप्तव्य समझता है तथा काम के प्रति समर्पित है।
- पुरुषार्थ के विषय में किस प्रकार अन्य दार्शनिक विचारधारा से भिन्न विचार रखता है।
- एतदर्थ सर्वप्रथम हमें चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा अथ वा नीतिमीमांसा समझनी पड़ेगी। ध्यातव्य है कि इससे पूर्व के पाठ में आचारमीमांसाविषयक पाठ प्रस्तावित था, पुनरुक्ति दोष से बचने के लिये जिसका विवेचन वहॉ नहीं किया गया। आपलोगों के बोधार्थ उसकी परिचर्चा यहीं की जा रही है-

6.3. चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा

6.3.1 भूमिका:-

चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा उसकी ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा की परिणति है। इसमें मानव का स्वरूप और पुरुषार्थ का स्वरूप पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है। भारतीय विचारधारा में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। धर्म मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। अर्थ एवं काम धर्म से नियन्त्रित होता है। चूँकि चार्वाक तत्त्वमीमांसा में मनुष्य का आध्यात्मिक स्वरूप भौतिक बन जाता है, अतः उसके प्राप्तव्य

अभीष्ट की प्राथमिकता भी बदल जाती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष गौण हो जाता है, धर्म लक्ष्यविहीन हो जाता है, काम परम पुरुषार्थ बन जाता है और अर्थ उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन। यहॉ उक्त चारों पुरुषार्थों की चार्वाकीय विवेचना प्रस्तुत की जा रही है-

6.3.2 चार्वाक दर्शन की मोक्षविषयक अवधारणा:-

भारतीय विचारधारा में मोक्ष दुःखों के आत्यन्तिक अभाव की अवस्था है, यही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। वहाँ इसी को परम पुरुषार्थ कहा गया है। कुछ विचारकों के अनुसार मोक्ष इसी जीवन में प्राप्तव्य है तो कतिपय अन्य विचारकों के अनुसार मृत्यु के उपरान्त इसकी उपलब्धि होती है। बौद्ध दर्शन का निर्वाण, सांख्य एवं योग दर्शन का कैवल्य, जैन, न्याय-वैशेषिक एवं वेदान्त विचारधाराओं का मोक्ष मानव जीवन का परम लक्ष्य है। मीमांसक विचारक स्वर्ग को, जो पूर्ण आनन्द की अवस्था है, मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं।

चार्वाक के अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है- मरणमेव अपवर्गः अथ वा मरणमेव मोक्षः। सर्वदर्शनसंग्रह में मोक्ष का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- देहच्छेदो मोक्षः। अर्थात् देह या आत्मा का विनाश ही मोक्ष है। यदि मोक्ष से तात्पर्य आत्मा का शारीरिक बन्धन से मुक्त होना है तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवित शरीर ही आत्मा है। शरीर से भिन्न आत्मा का कोई स्वरूप ही नहीं है। यदि मोक्ष का अर्थ जीवन काल में ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है तो यह असम्भव है, क्योंकि शरीर-धारण और सुख-दुःख में अवियोज्य सम्बन्ध है। चार्वाक के अनुसार सुख की कामना तथा मृत्यु के उपरान्त मोक्ष की अवधारणा निराधार है, क्योंकि यह परलोक की अवधारणा पर आधारित है और परलोक के लिए कोई प्रमाण नहीं है। अतः मोक्ष की धारणा न केवल भ्रमजन्य है बल्कि तर्कविरुद्ध भी है।

6.3.3 चार्वाक दर्शन की धर्मविषयक अवधारणा:–

भारतीय विचारधारा में धर्म सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों का प्रणयन ही धर्म की स्थापना के लिये किया गया है। इसे ही जगत् की प्रतिष्ठा कहा गया है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) में इसका मूर्धन्य स्थान है। धर्म का प्रमाण वेद है। किन्तु चार्वाक दर्शन के अनुसार धर्म मूर्खतापूर्ण मतिभ्रम एवं एक प्रकार का मानसिक रोग है न ईश्वर का अस्तित्व है एवं न नित्य आत्मा का। धार्मिक अन्धविश्वासों एवं पक्षपातों के कारण मनुष्य को परलोक, ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि की कल्पना करने की आदत बन जाती है। चार्वाक वेदों की घोर निन्दा करता है। उनके अनुसार वेद अविश्वसनीय हैं, क्योंकि वे असत्यता, असंगति एवं पुनरुक्ति के दोषों से भरे पड़े हैं। वेद के रचयिता तीन है- भाण्ड, धूर्त और निशाचर। अग्निहोत्र, तीनों वेद, तपस्वी के त्रिदण्ड और शरीर में भस्म लगाना-

ये सब उन लोगों की जीविका के साधन हैं जो ज्ञानशून्य एवं पुंस्त्वविहीन हैं। वेदों में प्राप्त धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, यज्ञ, आत्मा, ईश्वर, परलोक, पुनर्जनम आदि अतीन्द्रिय विषयों की कल्पनाएँ जनसाधारण को धोखा देने के लिए हैं।

चार्वाक वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञ, यागादि का भी घोर विरोध करते हैं। वे वैदिक कर्मकाण्डों का उपहास करते हैं। उनके अनुसार स्वर्ग पाने के लिए, नरक से बचने के लिए तथा प्रेतात्माओं को तृप्त करने के लिए वैदिक कर्मकाण्ड निरर्थक हैं। वे वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जाता है तो व्यक्ति पशुओं के बजाय अपने माँ-बाप की बलि क्यों नहीं कर देते जिससे वे स्वर्ग जा सकें। वैदिक श्राद्ध-कर्म पर व्यंग्य करते हुए चार्वाक कहते हैं कि यदि श्राद्ध में अर्पित किया हुआ पदार्थ प्रेतात्मा की भूख मिटा सकता है तो पथिक भोजन-सामग्री लेकर यात्रा पर क्यों निकलता है? उसके कुटुम्बजनों को घर से ही उसकी भूख मिटाने के लिए भोज्य पदार्थ अर्पित कर देना चाहिए। तद्यथा-

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्द्धयेच्छिखाम्।। सर्व0 15

6.3.4 चार्वाक दर्शन की कामविषयक अवधारणा:–

चार्वाक चारों पुरुषार्थों में काम को परम पुरुषार्थ मानता है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि जो कर्म काम की पूर्ति करे या सुख प्रदान करे वही उचित है। उनके अनुसार व्यक्ति द्वारा इन्द्रिय सुखों का उपयोग ही जीवन का लक्ष्य है। उसका आदर्श है, जब तक जीवित रहें सुख से रहें, उधार लेकर घी पियें क्योंकि देह के भस्म हो जाने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता -

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

चार्वाक दर्शन के अनुसार पारलौकिक और आध्यात्मिक सुख की आशा में ऐहिक सुख का परित्याग करना पागलपन है। उनकी यह भी मान्यता है कि दुःख के भय से सुख का त्याग करना मूर्खता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति भिक्षुकों द्वारा माँगे जाने के भय से भोजन पकाना नहीं छोड़ता, अथवा पशुओं द्वारा नष्ट किये जाने के भय से खेती करना नहीं छोड़ता उसी प्रकार दुःख के भय से सुख का परित्याग नहीं करना चाहिए। फिर, यदि सुख और दुःख परस्पर मिले हों तो सुख का ग्रहण और दुःख का परित्याग वैसे ही उचित है जैसे भूसे और गेहूँ मिले रहते हैं, किन्तु गेहूँ ले लिया जाता है और भूसा पशुओं के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन केवल और केवल सुख का चिन्तन करता हुआ प्रतीत होता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि चार्वाक दर्शन की इन मान्यताओं ने मनुष्य के चित्त को उच्चतर जीवन के विचारों तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों से बिलकुल हटाकर विषयभोग की दुनियाँ में केन्द्रित कर दिया। उसने विश्व को नियन्त्रित करने वाले ईश्वर तथा मनुष्य को सन्मार्ग पर लाने वाली अन्तर्दृष्टि का तो निषेध किया ही, परलोक, लोकोत्तर जीवन तथा पुनर्जन्म को भी अस्वीकार करके कर्मवाद के सिद्धान्त का भी तिरस्कार किया। चार्वाक दर्शन सुख की प्राप्ति के लिए इतना अधीर हो उठता है कि वह दुःख से बचने की भी कोशिश नहीं करता। फलस्वरूप उसने दर्शनशास्त्र को जीवन की साधना के स्तर से भी च्युत कर दिया। इस क्रम इसे इस प्रकार समझा जाना चाहिए कि चार्वक ने किसी दर्शन या विचार का प्रवर्तन नहीं किया बल्कि उस काल में व्याप्त सामाजिक व्यवस्था का लोगों की मानसिकता के अनुरूप् विरोध किया।

वस्तुतः उक्त विवेचन से ही हम इस दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक जीवन से सम्बन्ध की स्थापना कर सकते हैं। यह चिन्तन एक ऐसा विचार है जो लोगों को सहज ही आकृष्ट कर लेता है। लोगों की रुचि के अनुकूल है। इस सन्दर्भ में, व्यावहारिक व सांसारिक जीवन के वर्तमान स्वरूप को समझना परमावश्यक है। इसके सवरूप को मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना के सन्दर्भ में नहीं समझा जाना चाहिए।

वर्तमान व्यवहार, व्यवस्था व संसार के स्वरूप की व्याख्या कर पाना सर्वथा दुष्कर है। इसका स्वरूप प्रतिक्षण बदलता रहता है इसलिये यह कह पाना कि यह ऐसा है यह वैसा है सर्वथा आपेक्षिक है। पुनरपि प्रतिदिन के प्रतिक्षण बदलते स्वरूप को ध्यान में रखकर एक सर्वस्वीकृत स्वरूप अवश्य ही निर्धारित किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

(1) चार्वाक के अनुसार मोक्ष है-

(क) पुनर्जन्म (ख) स्वर्ग (ग) मृत्यु (घ) कर्मबन्धन

(2) वेदों में प्राप्त धर्म, अधर्म आदि विषयों की कल्पनाएँ जनसाधारण के लिए ------ है।

(3) चार्वाक दर्शन का आदर्श वाक्य क्या है?

(4) चार्वाक दर्शन ने आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों को केन्द्रित कर दिया-

(क) उच्चतर मूल्यों में (ख) विषयोपभोग में

(ग) परमात्मा की प्राप्ति में (घ) कर्मकाण्ड में

(5) चार्वाक मे कर्मवाद सिद्धान्त का-

(क) समर्थन किया (क) प्रचार किया

(ग) अपमान किया (घ) सिद्धान्त दिया

6.4 चार्वाक दर्शन के व्यावहारिक सिद्धान्त

6.4.1 रूढ़ि का विरोध:-

यहाँ रूढ़ि से तात्पर्य समकालीन समाज में व्याप्त किसी ऐसी पारम्परिक भ्रान्त धारणा से है जिसका सम्बन्ध तर्क या विश्वास पर आधारित किसी मान्यता से न होकर उस समाज में प्रवर्तित अन्धविश्वास पर आधारित किसी अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात व अतिमायिक मान्यता से है। यथा- यात्रा पर निकलते समय बिल्ली के द्वारा रास्ता काटने पर अशुभ व अनिष्ट की संभावना कर बैठना। या पुरुष की बाईं ऑख के फड़कने से अनिष्ट तथा दाईं ऑख के फड़कने से अभीष्ट की प्राप्ति होना।

इससे पूर्व के पाठों में सम्यक्तया यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि चार्वाक लगभग सभी रूढ़ियों का उपहास उड़ाते हैं। सविशेष वेद एवं वैदिक आचार उनके कठोर प्रहार के विशिष्ट लक्ष्य रहे। वेद पर प्रहार का अर्थ इस प्रसंग में उस में निहित कट्टर कर्मकाण्ड की भत्स्र्ना किया जाता रहा है। आज भी यह विवाद का ही विषय है कि क्या उस तथाकथित कर्मकाण्ड से स्वर्गादि की प्राप्ति संभव है? आज भी हमारे समाज मे यज्ञ, त्रिदण्ड भस्म इत्यादि के सहारे जीविकोपार्जन करने वाले की कमी नहीं। इसी व्यवस्था के विरोध में कालान्तर में कबीरदास ने अपना स्वर मुखरित किया था कि

पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार। ता ते चकिया भली कूट खाए संसार।।

मृत्यु के उपरान्त सम्पादित किये जाने वाले श्राद्धादि के विशिष्ट सन्दर्भ में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि श्राद्धकर्म में मरे हुए के लिये पिण्डदान रूप भोजन क्यों दिया जाता है। यदि पिण्डदान से मृतात्मा सन्तृप्त होता होगा तो यात्रा पर जाने वाले यात्री अपने साथ क्यों भोजन ले जाते हैं? क्यों नहीं घर बैठे उनके स्वजन श्राद्धप्रक्रिया के द्वारा उन्हें भोजन पहुंचा देते हैं ? भले ही चार्वाककालीन समाज में यह कथन वेद विरुद्ध रहा हो किन्तु आज यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उक्त समस्त क्रिया, प्रक्रिया व प्रतिक्रिया विलुप्तप्राय हो रही हैं। कहीं तीन दिनों में ही मृतात्मा के उक्त समस्त संस्कार कर दिये जाते हैं तो कहीं उसी दिन उस कार्य को सम्पन्न कर शोकाकुल परिवार निश्चिन्त से हो जाते हैं। हॉ, आज भी

मिथिला, वाराणसी आदि प्रदेशों के कट्टर पण्डित समवाय में इसकी बीभीषिका देखी जाती है जहाँ श्राद्ध के नाम पर लाखों रूपये का अपव्यय होता है।

किसी भी समाज के पिछड़ेपन के कई कारणों में से एक कारण उसका रूढ़िग्रस्त होना है। रूढ़ि समाज की मानसिक दासता है जो प्रगतिवादी चिन्तन के मार्ग को सदैव अवरुद्ध करता है। अकर्मण्यता व निष्कर्मण्यता को इसी से बढ़ावा मिलता है। रूढ़ि का कोई कार्य कारण परिणाम नहीं होता। ऐसी स्थिति में, चार्वाक के द्वारा प्रवर्तित यह क्रान्ति वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक व्यवस्था के लिये सर्वथा उपादेय है। इसका यह अर्थ नहीं कि रूढ़ि सर्वथा त्याज्य है या वेदादि का विरोध करना ही आधुनिक संसार का सृजन करता है बल्कि इसका अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि समाज किसी ऐसी एकनिष्ठ विचारधारा का अनुवर्तक न रहे जो प्रगति व विकास के मार्ग में बाधक बने प्रत्युत विचारों की स्वतन्त्रता ऐसी प्रगति व विकास में साधक बने।

6.4.2 सुख का अन्वेषण:-

अन्य सांसारिक वस्तुओं की इच्छा जिसकी इच्छा होने के कारण होती है वह भावात्मक वस्तु है सुख - इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं सुखस्य लक्षणम् (तर्कसंग्रह न्या0 बोधिनी)। इस धरा पर रहने वाला प्रत्येक मानव सुख के अन्वेषणमात्र में रहता है। उपनिषद् स्पष्टतया सुखप्राप्ति की बात करती है। वहाँ भले ही आत्यन्तिक अथ वा पारमार्थिक सुख की बात कही जा रही हो किन्तु मूल में एक ऐसे अभीष्ट की अभिलाषा संचित है जो जन्म जन्मान्तर के दुःखों का निषेध करती है। दुःख का निषेध व सुख की प्राप्ति का चिन्तन प्रायः समस्त भारतीय दर्शन चिन्तन में विद्यमान है। चार्वाक भी सुख की अवधारणा प्रस्तुत करता है।

चार्वाक दर्शन सुख की व्याख्या सर्वथा नूतन पद्धति से करता है। वे दुःख, कष्ट, पीड़ा आदि को इसी जीवन में प्राप्तव्य मानते हैं। चूंकि स्वर्ग, पुनर्जन्म आदि को वे नहीं मानते इसलिये समस्त भोक्तव्य, अभोक्तव्य आदि को इसी जन्म की अनिवार्यता मानते हैं। अतः सुख को ही परम लक्ष्य मानते हुए वे उसी को एकमात्र प्राप्तव्य मानते कहते हैं।

चार्वाक के अनुसार मानवमात्र का आदर्श सुख है। सुख इच्छित वस्तु की प्राप्ति है। इस सुख की प्राप्ति काम से होती है। काम मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः सुख प्राप्ति के लिये कामतृप्ति आवश्यक है। कामतृप्ति तथा सुख प्राप्ति वस्तुतः एक ही है। खाओ, पीओ तथा मौज करो यही मानव की ऐषणा है। इसलिये चार्वाक इसे अपनाने की प्रेरणा देता है। तदनुसार यही मनुष्य का आदर्श होना चाहिए। इस क्रम में चार्वाक किसी मर्यादा अथ वा नैतिकता की रेखा नहीं खींचता। सर्वदर्शनसंग्रह में

इस सुख को ही पुरुषार्थ कहा गया है- अंगनाद्यालिंगनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। अर्थात् स्त्री के आलिंगन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है।

एतदर्थ शास्त्रीय चिन्तन, धार्मिक अनुष्ठान, आध्यात्मिक निष्ठा आदि को वे आडम्बर मात्र कहते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में प्रवर्तित इन्द्रियसुख को यद्यपि वे स्वीकार करते हैं पुनरपि परस्परापघातकं त्रिवर्गं सेवेत के कथ्य का वे अनुसरण नहीं करते। इनत तथ्यों को वे केवल मन के राज्य की कल्पना कहते है। ध्यातव्य है कि यद्यपि यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् की अवधारणा समस्त बन्धन को तोड़ने वाली होती है तथापि उसकी मौलिक अवधारणा को सामान्य तर्कमात्र से निराकृत नहीं किया जा सकता। आधुनिक समस्त संसार इसी सुखवाद के प्रति उन्मुख है। भले ही, इस उच्छृंखल सुखवाद का प्रत्यक्षतः अहित दिखता हो किन्तु अप्रत्यक्षतः किसी भी विचारधारा में इसका विरोध नहीं देखा जाता। प्रायः सारे समकालीन अथ वा आस्तिक विचारधारा में असत्य भाषण का विरोध है, लेकिन व्यावहारिक सांसारिक सम्बन्ध की दृष्टि से केवल इसका ही अनुपालन मात्र दिखता है। सुरापान, सुन्दरीसमागम आदि को महापाप की संज्ञा दिये जाने पर भी मनुष्य इस में लीन दिखते हैं, इन्हें त्याज्य नहीं मानते।

तात्पर्य यह है कि एक विचारधारा नैतिकता की लम्बी चौड़ी परिभाषा व उदाहरण प्रस्तुत करके भी उसके अनुपालन में असमर्थ है दूसरी ओर चार्वाक कटुसत्य ही सही किन्तु उसके अनुपालन की शिक्षा दे रहा है तो नैतिकता का उल्लंघन कहना लांछना मात्र प्रतीत होता है। वस्तुतः समाज की नैतिकता किसी सिद्धान्त से निर्धारित नहीं की जा सकती। मनुष्य आवश्यकतानुरूप अपनी यथासंभव नैतिकता का निर्धारण करता है। इस दृष्टि से, निस्सन्देह चार्वाक दर्शन के सुख का अन्वेषण आधुनिक व्यावहारिक सांसारिक सम्बन्ध की सुन्दरतम व्याख्या करता प्रतीत होता है। ऐसी व्यवस्था से बचना व बचाना कठोर आत्मनिग्रह ही होगा।

6.4.3 भोगार्थ ऋण की कामना:-

इससे पूर्व रूढ़ि एवं सुख की अवधारणा के विषय में आपने पढ़ा। इससे एक बात स्पष्ट हुई कि चार्वाक का सुख उच्छृंखल है। वह इसकी प्राप्ति के लिये किसी भी सीमा तक जा सकता है। यद्यपि किसी भी सीमा- इस प्रकार का कथन अनिर्वचनीय होता है पुनरपि प्राप्त उनके सर्वाधिक प्रसिद्ध पद्य का एक चरण सुख की प्राप्ति के लिये ऋणग्रहण तक करने का परामर्श दे देता है। यहाँ ऋण का अर्थ है अपनी उपयोगिता की सिद्धि के लिये किसी पर से आवश्यकतानुरूप वस्तु ग्रहण करना। ध्यातव्य है कि सर्वदर्शनसंग्रह में वर्णित चार्वाक दर्शन की प्रस्तावना में उद्धृत कारिका में उक्त चरण प्राप्त नहीं होता। तदनुसार-

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योयगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?

पुनरपि पूर्ववर्णित चरण को ही आधार मानकर यहाँ विवेचन किया जा रहा है। स्पष्टतः इस विचारधारा की मान्यता है कि सुख प्राप्त्यर्थ अवश्य ही ऋणादि ग्रहण कर लेना चाहिए। यद्यपि ऋणादि ग्रहण में की महती समस्या उसे पुनः लौटाने की होती है किन्तु इससे डरना नहीं चाहिए क्योंकि मृत्यु के उपरान्त मृत व्यक्ति से ऋण मॉगेगा कौन ? यहॉ ऋण का अर्थ है सुखोपभोगार्थ सर्वविध सुविधा का अनियन्त्रित उपभोग। कालान्तर में यह परम लक्ष्य सिद्ध हुआ।

यदि आधुनिक सन्दर्भ में इसका विश्लेषण किया जाय तो भारतीय चिन्तन धरा में आज से 2500 वर्ष पूर्व बोया गया व्यावहारिक बीज समस्त आर्थिक व्यवस्था का आधार बन चुका है। सारी बैंकिंग प्रणाली इसी ऋण सिद्धान्त पर आधारित है। उपभोक्ता बैंक से ऋण ग्रहण करता है। घर, गाड़ी, टी वी आदि आधुनिक सुख सुविधाओं को प्राप्त करता रहता है। इस बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत भी मृत्यु के उपरान्त ऋण वापस करने के सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट छूट की व्यवस्था रहती है।

ध्यातव्य है कि उक्त प्रणाली का प्रारम्भ न तो चार्वाक दर्शन के सांगोपांग अध्ययन के उपरान्त प्रारम्भ किया गया न ही चार्वाक ने उक्त प्रणाली के लिये अपने इस सिद्धान्त का प्रवर्तन किया था। यह एक संयोग मात्र है कि चार्वाक के द्वारा प्रारम्भ की गयी यह अवधारणा आज भी सर्वथा प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है। प्रत्यक्षतः भले ही इस विचारधारा पर कठोर प्रहार किया जाता रहा हो, परोक्षतः आज भी इसका अनुपालन होता दिख रहा है।

6.4.4 तनावमुक्ति के प्रयास:-

समाज में हर गति व मति वाले लोग रहते हैं जो किसी न किसी रूप में किसी न किसी क्षण विविध समस्याओं से ग्रस्त रहते हैं। आस्तिक विचारधारा के दार्शनिको का यह मानना है कि ये समस्याएं तीन प्रकार की होती हैं- आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। इन समस्याओं का साक्षात्कार हमें करना ही पड़ता है। इन समस्याओं, दुःखों अथ वा कष्टों के कारण होते हैं। कदाचित् वे कारण होते हैं एषणाओं की प्राप्ति न होना। यही तनाव का मूल कारण भी होता है। हम जब तक वर्जनाओं में बॅधे होते हैं तब तक इस मनोवैज्ञानिक कष्टों को प्राप्त होते रहते हैं। चार्वाक ने इसके लिये स्वतन्त्रता से जीने का एक मन्त्र दिया। एक ऐसे निःसंकोच जगत् का स्वरूप प्रदान किया जहॉ किसी मर्यादा के अधीन नहीं रहना पड़ता। सुख की प्राप्ति के लिये कुछ भी किया जाना, स्वर्ग, नरक, ईश्वर, पुनर्जन्म आदि का पूर्णतया निषेध करना, पाप पुण्य की अवधारणा को न मानना आदि उक्त वर्जनाओं

से छुटकारा का प्रयासमात्र है। भले ही आधुनिक स्थिति परिस्थिति में यह हमें उचित प्रतीत होता हो किन्तु इसे ही परम सत्य नहीं माना जाना चाहिए। इस समस्त सन्दर्भ में चार्वाक चिन्तन को विशुद्ध बुद्धिवादी व तर्क की धरा पर खड़ा चिन्तन समझा जाना चाहिए। बुद्धि का ऐसा सूक्ष्म प्रयोग चार्वाकवादी धारणा को एक नये ही रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु सत्य के सम्बन्ध में एक विरल संकेत मात्र है जो हमें प्राप्त होता है। समान्यतया तो इस दर्शन चिन्तन का हमें विरूप चित्रण ही प्राप्त होता है। दूसरी ओर चार्वाक युगों तक उपहास के पात्र बने रहे हैं। उन पर संभव असंभव, प्रत्येक प्रकार के दोषारोपण किये जाते रहे। परम्परा के विरुद्ध विचारधारा को मोड़ने का आक्षेप उन पर लगाया गया। किसी ने उसे नास्तिक शिरोमणि कहा तो किसी ने धूर्त शिरोमणि कह कर उपहास उड़ाया। एक दार्शनिक ने तो उन्हें पशुओं से भी अधिक पाशविक कहा है। उनके लिखित ग्रन्थों के भी जलाये जाने की अपुष्ट बातें की जाती रही। यहॉ तक कि इस विचारधारा को आगे पनपने नहीं दिया गया। किन्तु आज हमारे लिये वस्तुगत दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इस प्राचीन भारतीय भौतिकवादी दर्शन के मूल ग्रन्थों के अभाव में इसके अवदान का मूल्यांकन हमें बिना किसी पूर्वाग्रह के उपलब्ध सामग्री के गहन परीक्षण के द्वारा करना चाहिए। चार्वाक दर्शन को जिस विकृत रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है उससे हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

1. रुढ़ि का अर्थ है-

(क) शास्त्र समर्थित सिद्धान्त (ख) तर्क पर आधारित सिद्धान्त

(ग) अन्धविश्वास पर आधारित सिद्धान्त (क) इनमें से कोई नहीं

2. चार्वाक की दृष्टि में सुख है-

(क) ईश्वर की प्राप्ति (ख) स्त्री सुख

(ग) मृत्यु (घ) पापमुक्त होना

3. वात्स्यायन के द्वारा प्रवर्तित इन्द्रियसुख का लक्षण क्या है ?

4. चार्वाक के ऋणसिद्धान्त का ही अपरूप कहा जाना चाहिए-

(क) चौर्य सिद्धान्त को (ख) अदृश्य होने की कला को

(क) धन संचय को (घ) बैंक से ऋण ग्रहण करने को

5. क्या चार्वाक दर्शन किसी न किसी रूप में तनाव से छुटकारा दिलवाने का प्रयास करता है?

6.5 सारांश:-

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि चार्वाक एवं उनके अनुयायियों ने वैदिक काल से चली आ रही समस्त रूढ़ियों का विरोध किया। ईश्वर, पुनर्जन्म, स्वर्ग आदि का विरोध कर उन्होंने चिन्तन की धारा को एक नयी दिशा दी। सुख एवं काम को सर्वाधिक महत्त्व देकर चार्वाक ने समकालीन आवश्यकता को पहचाना। किसी भी अदृष्ट को फल का नियामक न समझकर उन्होंने मानव को सदा के लिये चिन्ता विमुक्त करने का प्रयास किया। एक तरह से समाज में व्याप्त समस्त वर्जनाओं को इन्होंने वर्जित करने का प्रयास किया। कदाचित् यही इसकी प्रासंगिकता भी है। इसके साथ ही यह भी आपको समझ लेना चाहिए कि यह सिद्धान्त सनातन नहीं बन पाया तथा यथाकाल अन्य दार्शनिक विचारों का विरोध इन्हें सहते रहना पड़ा। इस इकाई के अध्ययन से आप चार्वाक के मतों को जानकर सहज ही जान पाएँगे कि चार्वाक दर्शन का वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक जीवन से कैसे सम्बन्ध बनाये जा सकते हैं।

6.6 शब्दावली

आपकी सुविधा के लिये यहाँ इस पाठ में प्रयुक्त में जटिल व दुरुह शब्दों का सरलीकृत रूप दिया जा रहा है। आशा इनके माध्यम से भाषा व सिद्धान्तगत जटिलता को अत्यन्त सरलता से समझ पाएंगे। तद्यथा-

ज्ञानमीमांसा- चिन्तन की एक प्रक्रिया जिसमें सत्ता को ज्ञान अथ वा प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया जाता है ज्ञानमीमांसा कहलाती है।

तत्त्वमीमांसा- दर्शन चिन्तन की प्रक्रिया जिसमें समस्त सृष्टि प्रक्रिया को समझने व समझाने का प्रयास किया जाता है। ज्ञानमीमांसा की तरह यह भी दाश्रनिक विचारधारा का अनिवार्य अंग है।

पुरुषार्थ- भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में मानवमात्र के परम लक्ष्य को पुरुषार्थ कहा जाता है। पुरुषार्थ चार हैं- धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष।

निर्वाण- इसका अर्थ है दिये का बुझ जाना। यह बौद्ध दर्शन में मोक्ष के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यह एक प्रकार से आत्यन्तिक दुःख का विनाश होना।

कैवल्य- सांख्य एवं योग योग दर्शन में मोक्ष के लिये कैवल्य शब्द का प्रयोग होता है। कैवल्य का अर्थ है अकेला हो जाना या सरल भाषा में अपनी सारी दुकान समेट लेना। निर्वाण की तरह कैवल्य भी मोक्ष का ही पर्याय है।

अपवर्ग- संस्कृत व्याकरण में इसका अर्थ है कार्यसिद्धि। किन्तु न्याय एवं वैशेषिक में मोक्ष के लिये अपवर्ग का प्रयोग किया जाता है जहाँ इसका अर्थ है दुःख से पूर्णतः मुक्त हो जाना।

6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:-

6.3 1. ग, 2. धोखा,

3. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

4. ख 5. ग

6.4 1. ग, 2. ख, 3. परस्परापघातकं त्रिवर्गं सेवेत।

4. घ, 5. हॉ

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. झा, आचार्य आनन्द, (1969) चार्वक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनउ,
2. तिवारी, डॉ0 नरेश प्रसाद, (1986), चार्वाक का नैतिक दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
3. ऋषि, प्रो0 उमाशंकर शर्मा, (1964), सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1
4. शर्मा, चन्द्रधर, (1991), भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
5. देवराज, डॉ0 नन्दकिशोर, (1992), भरतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न:-

(क) चार्वाक दर्शन की आचारमीमांसा को विस्तारपूर्वक समझाएं।
(ख) चार्वाक दर्शन की कामविषयक अवधारणा पर एक निबन्ध लिखें।
(ग) चार्वाक विचारधारा किस प्रकार रूढ़ियों का विरोध करता प्रतीत होता है ?
(घ) वर्तमान व्यावहारिक सांसारिक सम्बन्ध की दृष्टि से चार्वाक दर्शन की उपादेयता पर प्रकाश डालें।

द्वितीय सत्रार्द्ध / SEMESTER- II
खण्ड 5 - न्याय दर्शन

इकाई 1 न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 न्याय दर्शन परिचय
    1.3.1 वैचारिक पृष्ठभूमि
    1.3.2 भारतीय तर्क परम्परा व पद्धति
    1.3.3 न्याय ग्रन्थों का विकासानुक्रम
1.4 न्याय दर्शन का इतिहास
    1.4.1 सृष्टि विवेचन और न्याय
    1.4.2 कार्यकारणवाद और न्याय
    1.4.3 न्याय दर्शन का पदार्थ विचार
    1.4.4 न्याय के षोडष पदार्थ
    1.4.5 न्याय दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.8 निबन्धात्मक प्रश्न
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.1 प्रस्तावना:-

आप जानते हैं कि भारतीय दर्शन के अन्तर्गत दो सम्प्रदाय आते हैं 1. आस्तिक सम्प्रदाय 2. नास्तिक सम्प्रदाय। आस्तिक दर्शन उसे कहा गया है जो वेदों में विश्वास करता हो। इसके विपरीत नास्तिक दर्शन वेदों में विश्वास न रखने वाले दर्शनों को कहा जाता है। इस विभाजन के आधार पर सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, न्याय और वैशेषिक को आस्तिक दर्शन कहा गया है, तथा जैन, बौद्ध और लोकायत नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत माने गए हैं।

आस्तिक माने जाने वाले भारतीय दर्शनों में भी न्याय दर्शन अपनी विश्लेषणात्मक विशिष्टताओं के लिए जाना जाता है, यहां काल्पनिक अवधारणाएं नहीं, अपितु तार्किक जांच और आलोचनात्मक विधि हमारा स्वागत करते हैं, लेकिन विश्लेषण की इस खरी जमीन पर आगे बढ़ने के पहले उसकी 'सूक्ष्म, दुर्गम और पारिभाषिक' विवेचन पद्धति को आत्मसात करने की श्रमसाध्य प्रक्रिया से भी गुजरना पड़ता है।

'न्याय दर्शन का इतिहास' न्याय दर्शन के आपके अध्ययन क्रम की पहली इकाई है। किसी दर्शन के इतिहास से आप को पता चलता है कि किस वैचारिक भूमि में वह दर्शन पल्लवित और पुष्पित हुआ है, और चिन्तन-मनन की किस परम्परा को उसने अपनी विशिष्टता के बतौर अंगीकार करके समुन्नत किया है। इसलिए न्याय के इतिहास की इस इकाई में भी आप इस दर्शन के उद्भव और विकास की क्या वैचारिक पृष्ठभूमि थी, इसकी मुख्य विषय वस्तु क्या थी, कौन से दार्शनिक तत्व इसको विशिष्ट बनाते हैं और और अन्य भारतीय दर्शनों के प्रति इसका क्या दृष्टिकोण था, इत्यादि प्रश्नों का प्रारम्भिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

1.2 उद्देश्य:-

इस इकाई के अन्तर्गत न्याय दर्शन के संक्षिप्त इतिहास के अध्ययनोपरान्त आप विषय के निम्न बिन्दुओं से अवगत हो सकेंगेः

- न्याय भारतीय दर्शन की किस परम्परा का वाहक है और भारतीय दार्शनिक इतिहास में उसका क्या महत्व है?
- न्याय दर्शन का प्रारम्भिक परिचय हासिल कर लेंगे।
- न्याय का उद्भव किस वैचारिक पृष्ठभूमि में हुआ, इसका विश्लेषण कर सकेंगे।
- न्याय दर्शन का विकासानुक्रम क्या था, और उसके मुख्य तत्व क्या हैं, बता सकेंगे।
- इसके मुख्य प्रवर्तकों और ग्रन्थों से परिचित हो जाएंगे।

1.3 न्याय दर्शन परिचय:-

वैचारिक पृष्ठभूमि—

भारतीय दर्शन का इतिहास अति प्राचीन है और प्रचुर दर्शन सामग्री की उपलब्धता उसकी विशेषता है, जिसे देखने से भारतीय समाज की लगभग ढाई हजार वर्षों की गहन दार्शनिक गतिविधियों का परिचय मिलता है। यह तो सर्वविदित है कि हमारे उपनिषदों की विषयवस्तु दार्शनिक चिन्तन-मनन पर केन्द्रित है, जिसके कारण औपनिषदिक युग को दार्शनिक गतिविधियों के प्रारम्भ का युग माना जाता है। इनका सटीक काल निर्धारण कर पाना तो मुश्किल है, फिर भी ईसापूर्व सातवीं शताब्दी को ही आम तौर पर उनका काल माना जाता है। उपनिषदों की परिपक्व दार्शनिक विषयेवस्तु को देखते हुए यह कहना गलत न होगा कि उनके प्रौढ़ होने के पहले भी चिन्तन-मनन की लम्बी प्रक्रिया भारत में रही होगी, भले ही आज हमारे लिए उसकी कोई स्पष्ट ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करना संभव न हो।

इस तरह यह तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक और पूर्व औपनिषदिक काल से लेकर सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में नव्य न्याय का प्रतिनिधित्व करने वाले गदाधर और उनके टीकाकारों के उदय काल तक, भारतीय दर्शन ने एक गौरवपूर्ण यात्रा तय की है। इस कालावधि में दर्शन शास्त्र पर अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सामनें आइं, अनेक दार्शनिक चर्चाओं का सूत्रपात हुआ, और अत्यन्त कुशलता के साथ उनका विवेचन किया गया था। न्याय दर्शन इस समृद्ध परम्परा का अंग होने के साथ-साथ उसको गहराई तक प्रभावित करने वाला दर्शन भी था। न्याय और वैशेषिक दर्शनों की परस्पर समानताएं तो सर्वविदित हैं, अन्य दर्शनों के साथ भी इसका जुड़ाव कुछ कम नहीं रहा है। मीमांसा और पूर्वमीमांसा ने भी इसके कुछ सिद्धान्तों को अपनाया था, तो कुछ का खंडन किया था। यह कहना गलत न होगा कि तार्किक पद्धतियों के अपने उन्नत विकास के कारण बाद में न्याय दर्शन समस्त भारतीय दर्शनों की गवेषणा का जरूरी सहायक बन गया था। न्याय दर्शन की इस ऐतिहासिक व दार्शनिक विशिष्टता के कारण, उसे समझने के लिए भारतीय तर्क परम्परा पर भी एक विहंगम दृष्टि डालना हमारे लिए उपयोगी होगा।

भारतीय तर्क परम्परा और पद्धति—

मनुष्य तर्कशील प्राणी है। वह कुछ चीजों का सत्य जानने के बाद स्थिर नहीं हो जाता, बल्कि बहुतेरी अन्य चीजों के सत्यासत्य सम्बन्धी निष्कर्षों की ओर आगे बढ़ता रहता है। तर्कशीलता की यह प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं चलती, अपितु सामाजिक और सामूहिक स्तरों पर भी आगे बढ़ती रही है, और दर्शन शास्त्र के उद्भव और विकास का कारण बनती है। भारतीय इतिहास में ऐसी

सार्वजनिक चर्चाओं अथवा शास्त्रार्थ के सन्दर्भ उपनिषदों में खूब मिलते हैं, लेकिन भारत की अन्य साहित्यिक-दार्शनिक धाराएं, उनकी शाखाएं-प्रशाखाएं भी इस सन्दर्भ में पीछे नहीं हैं। भारतीय बौद्ध परम्परा इसका उदाहरण है, जहां मिलिन्द पह और कथा वस्तु जैसी रचनाएं अपनी तर्कशीलता से लोगों को आकर्षित करती रही हैं।

भारत में पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से ही खगोलशास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिष व धर्मशास्त्र, औषधि, गणित व अन्य विषयों पर चिन्तन-मनन की एक समृद्ध परम्परा मिलने लगती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, सुश्रुत की चरकसंहिता व कौटिल्य के अर्थशास्त्र इसी दौर की वे रचनाएं हैं, जो अपनी तार्किकता और विचारशीलता की वजह से इतने दिनों बाद भी भारत के गौरव ग्रन्थों के रूप में विश्वविख्यात हैं। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, न्याय दर्शन के वात्स्यायन और वाक्पदीयम के रचनाकार भर्तृहरि जैसे रचनाकारों ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तर्कशास्त्र के जटिल सिद्धान्तों का कौशलपूर्ण प्रयोग किया है। पदार्थ के क्षण-क्षण में उत्पन्न व विनष्ट होने वाले अस्तित्व पर विचार करते हुए वे इस अवधारणा को सूत्रबद्ध कर सके थे, कि किसी चीज की सत्ता या तो है, अथवा नहीं है। वात्स्यायन आत्यन्तिकता के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं, और कहते हैं कि कोई भी सत्ता एक साथ शाश्वत या अशाश्वत नहीं हो सकती।

माना जाता है कि भारतीय तर्कशास्त्र का अस्तित्व बौद्धों के अभ्युदय काल से पहले ही हो चुका था। भारतीय ग्रन्थों में इस शास्त्र को अनेक नामों से जाना जाता था, जिनमें हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वाद विद्या, न्याय विद्या, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, आदि शब्दावली शामिल है। न्याय का एक पुराना नाम आन्वीक्षिकी भी है, और कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिन चार विद्याओं का जिक्र किया है, उनमें आन्वीक्षिकी को समस्त विद्याओं का प्रदीप, समस्त कर्मों का उपाय और समस्त धर्मों का आश्रय बताया गया है।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या।
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।

भारतीय दार्शनिक तर्क परम्परा की प्राचीन उपस्थिति से परिचित होने के बाद यह जानना भी जरूरी है कि हमारी इस तर्क परम्परा की पद्धतिमूलक विशेषता भी उल्लेखनीय है। यहां पक्ष को, जिसे पारम्परिक शब्दावली में पूर्वपक्ष कहते हैं, प्रस्तुत करने के बाद उसके प्रतिपक्ष यानी कि विरोधी या प्रतिवादी के पक्ष को रखने, और इस तरह उत्तर-प्रत्युत्तर के क्रम में दार्शनिक चिन्तन को आगे बढ़ाने की परम्परा रही है। यह पद्धति भी पुरानी है, जिसका परिचय हमें औपनिषदिक काल से ही मिलने लगता है। उपनिषदों की प्राचीन परम्परा में इस पद्धति के लिए वाकोवाक्य शब्दावली का प्रयोग मिलता

है, जिसका शाब्दिक अर्थ है प्रश्नोत्तर के माध्यम से विवाद। ध्यान देने वाली बात है कि वाकोवाक्य की पदावली यूनानी दर्शन की उस डायलेक्टिक्स (द्वंद्वात्मकता) से काफी मिलती-जुलती है, जो दुनिया भर में आज भी चिन्तन पद्धति के रूप में लोगों को आकर्षित करती है। भारतीय तर्कपरम्परा का गहराई से अध्ययन करना, और पश्चिम में तर्कशास्त्र के विकास से उसकी तुलना करना एक दिलचस्प विषय हो सकता है, और ऐसे प्रयास न्याय दर्शन के उद्भव और विकास को समझने के लिए भी उपयोगी होंगे। लेकिन हम यहां केवल इतना ही समझेंगे कि भारत में अपनी पद्धतिमूलक विशेषता के साथ तर्कशास्त्र की एक समृद्ध परम्परा मौजूद थी, जो शायद अरस्तू के तर्कशास्त्र की चर्चित पश्चिमी परम्परा के समान ही काफी समुन्नत थी।

हमारे लिए यह जानना जरूरी है कि भारतीय तर्कशास्त्र या तर्कविज्ञान की परम्परा, उसकी पद्धतिमूलक विशेषता का न्याय दर्शन के साथ क्या सम्बन्ध रहा है? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि न्याय दर्शन के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है, बल्कि हम तो यह भी कह सकते हैं कि उसके मूल आधारों को तैयार करने वाली पहली कृति ही न्याय सूत्र थी। इतना तो आप जानते होंगे कि न्याय सूत्र के रचनाकार महर्षि गौतम हैं और उनके इस सूत्र का रचना काल लगभग दूसरी शताब्दी माना जाता है। दूसरी तरफ यह जानना भी जरूरी है कि गौतम के न्याय सूत्र की सबसे प्रथम सांगोपांग व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय वात्स्यायन को जाता है, जिनके भाष्य को न्याय दर्शन के सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य का दर्जा आज तक यथावत बना हुआ है। हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक इतिहास में वाकोवाक्य की विद्या से युक्त दार्शनिक परम्परा का प्रथम सुष्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करने का श्रेय न्याय दर्शन को, और उसके दो मनीषियों अर्थात् महर्षि गौतम और वात्स्यायन को जाता है। वैचारिक पृष्ठभूमि के इस संक्षिप्त परिचय के बाद हम अब न्याय दर्शन के परिचयात्मक इतिहास की ओर आगे बढ़ सकते हैं।

न्याय दर्शन- परिचय—

आपस्तम्ब ने न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के रूप में किया है। न्याय की उत्पत्ति 'नी' धातु से हुई है। इसके अर्थ की विवेचना करते हुए यह कहा जाता है कि इसी के द्वारा शब्दों और वाक्यों के निश्चित अर्थों का बोध होता है। इस न्याय के आधार पर ही वैदिक शब्दों का उच्चारण निश्चित किया जाता है। संक्षेप में आप यह समझ सकते हैं कि वैदिक शब्दों के उच्चारण को भी न्याय की संज्ञा दी जाती थी। न्याय को कभी-कभी तर्कविद्या और वाद-विद्या, अर्थात वाद-विवाद सम्बन्धी विज्ञान का नाम भी दिया गया है। बहस अथवा वाद बौद्धिक जीवन का प्राण है। सत्य के अन्वेषण के लिए इस विधि का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। उपनिषदों के अध्ययन के समय आप देखेंगे कि उस समय ऐसी विद्वत परिषदें हुआ करती थीं जिनमें दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद हुआ करते थे। इसमें

सन्देह नहीं कि गौतम के न्याय शास्त्र का जन्म भी ऐसे ही वाद-विवादों अथवा शास्त्रार्थों की परम्परा से हुआ, जिसे उस काल में राजदरबारों तथा दार्शनिकों में समान रूप से लोकप्रियता प्राप्त थी। जयन्त अधिकार पूर्वक कहते हैं कि यद्यपि गौतम का न्यायदर्शन तर्कशास्त्र के विषय को एक सन्तोषजनक रूप में उपस्थित करता है, फिर भी गौतम से पूर्व भी तर्कशास्त्र विद्यमान था, जैसे जैमिनी से पूर्व पूर्वमीमांसा और पाणिनि से पूर्व व्याकरण विद्यमान था। महाभारत में भी तर्क शास्त्र और आन्वीक्षिकी का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थों में तर्कविद्या का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता अपितु केवल नाममात्र का उल्लेख मिलता है। मज्झिमनिकाय में आए अनुमान सुत्त के नाम से जरूर यह प्रकट होता है कि अनुमान शब्द का प्रयोग सम्भवतः अनुमान प्रमाण के लिए हुआ होगा। ललितविस्तर ने न्याय शास्त्र का वर्णन हेतुविद्या के नाम से किया गया है। जैन आगमों ने भी भारतीय न्याय शास्त्र की प्राचीनता को प्रमाणित किया है। राधाकृष्णन के अनुसार न्याय शास्त्र का आरम्भ बौद्ध काल से पूर्व हो गया था, यद्यपि उसकी वैज्ञानिक विवेचना बौद्धकाल के आरम्भ में और मुख्य सिद्धान्तों की स्थापना ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से पहले हुई थी।

न्याय ग्रन्थों का विकासानुक्रम—

संस्कृत साहित्य के इतिहास की किसी भी पुस्तक पर अगर आप एक सरसरी निगाह डालें, तो आप न्याय दर्शन के ऐतिहासिक विकासानुक्रम की रूपरेखा से परिचित हो जाएंगे। यहां उसका संक्षिप्त वर्णन आपके लिए सार्थक और पर्याप्त होगा। आप पहले ही जान चुके हैं कि न्याय दर्शन का पहला सूत्रग्रन्थ अक्षपाद गौतम लिखित 'न्यायसूत्र' है, जिस पर प्राप्त होने वाला पहला प्रामाणिक भाष्य वात्स्यायन (400 ई.) का है, जो चौथी शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है। वात्स्यायन के ग्रन्थ के प्रथम बड़े आलोचक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङनाग थे। न्याय दर्शन के पक्ष से दिङनाग का खंडन करने वाला प्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ 'न्यायवार्तिक' था, जिसके रचयिता राजा हर्षवर्धन के समकालीन प्रसिद्ध दार्शनिक उद्योतकर थे। उद्योतकर के ग्रन्थ पर टीका लिखने वाले दार्शनिक वाचस्पति मिश्र (841 ई.) थे। ध्यान देने वाली बात यह है कि स्वयं अद्वैत वेदान्ती होने के बावजूद वाचस्पति मिश्र को सभी दर्शनों पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने का श्रेय प्राप्त है। इस क्रम में दार्शनिक जयन्त भट्ट का भी नाम लिया जाता है, जिनकी रचना का नाम 'न्याय मंजरी' है। यहां तक का विकास-काल न्याय दर्शन के इतिहास का प्राचीन युग माना जाता है।

न्यायदर्शन के इतिहास का नवीन युग अर्थात नव्य न्याय के युग की शुरुआत बारहवीं सदी के आसपास मानी जा सकती है, जिसकी शुरुआत पूर्वी बंगाल के निवासी एक अत्यन्त प्रतिभाशाली दार्शनिक गंगेश उपाध्याय और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्व चिन्तामणि' की रचना के साथ हुई थी। कहा जाता है कि इस महान ग्रन्थ ने पिछले ग्रन्थों को पीछे छोड़ दिया था, और सब लोग स्वीकार करते हैं

कि गंगेश उपाध्याय की प्रतिभा का स्पर्श पाने के बाद ही न्याय का तर्कशास्त्र अपने परिपक्व स्वरूप को पा सका था। हालांकि उनकी आलोचना भी की जाती है, और कहा जाता है कि अपनी तार्किक बारीकियों के बावजूद उनके बाद के न्याय ग्रन्थ दार्शनिक ज्ञान के लिहाज से निस्तेज हो गए थे, और शब्दजाल के व्यूह में उनकी दार्शनिक गवेषणा ढंक सी गई थी। गंगेश उपाध्याय के ग्रन्थ पर वासुदेव सार्वभौम और रघुनाथ की टीकाएं महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। वासुदेव सार्वभौम (1500 ई.) नैयायिकों की प्रसिद्ध 'नदिया शाखा' का प्रथम नैयायिक था, और रघुनाथ व प्रसिद्ध धर्मगुरु चैतन्य उसके शिष्य थे। माना जाता है कि गंगेश के ग्रन्थ पर रघुनाथ की टीका 'दीधित' सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसके बाद नैयायिकों की इसी शाखा से जुड़े गदाधर मिश्र (1650 ई.) ने जो टीका लिखी वह सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हुई है, और उसे गंगेश उपाध्याय के बाद नव्य न्याय के क्षेत्र में दूसरा सबसे बड़ा स्थान दिया जाता है।

न्याय के वैचारिक ग्रन्थों के विकासानुक्रम के इस संक्षिप्त इतिहास को जानने के बाद एक और चर्चा भी जरूरी है, क्योंकि उसके बगैर न्याय दर्शन की समझ अधूरी रह जाएगी। दार्शनिक विवेचनाओं में सामान्यतया न्याय-वैशेषिक की चर्चा संयुक्त रूप में उपस्थिति होती है, और आपके मन में भी यह प्रश्न आया होगा कि ऐसा क्यों किया जाता है। पहले तो शायद इसका सबसे बड़ा कारण उनका यथार्थवादी यानी कि वस्तुओं के वस्तुगत अस्तित्व को मानने वाला दृष्टिकोण है। लेकिन दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रतिपादन शैली और सिद्धान्तों की भिन्नताओं के बावजूद उनके ही प्रवक्ताओं ने आगे चलकर उन्हें एकाकार कर दिया था। शिवादित्य मिश्र रचित 'सप्तपदार्थी' में न्याय और वैशेषिक का समन्वित रूप सबसे पहले दिखाई पड़ता है। न्याय और वैशेषिक के इतिहास के उत्तर काल में इन दोनों दर्शनों का संयुक्त प्रतिपादन ही हमें प्राप्त होता है, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण लगभग एक ही कालावधि में लिखे गये लोकप्रिय ग्रन्थ अन्नंभट्ट के 'तर्कसंग्रह' और विश्वनाथ के भाषा परिच्छेद या 'कारिकावली' हैं।

टिप्पणीकार इन दर्शनों के इतिहास के इन दो चरणों (उदाहरण के तौर पर प्राचीन न्याय और नव्य न्याय) के अलावा एक तीसरे चरण की भी चर्चा करते हैं। कहा जाता है कि यह वह चरण था जब न्याय-वैशेषिक का स्वतन्त्र विश्वदर्शन लगभग विस्मृत कर दिया गया था, और उसे मुख्यतः तर्कशास्त्र मानते हुए वेदान्त दर्शन के अध्ययन मंे सहायक माने जाने वाले दर्शन की गौण स्थिति में पहुंचा दिया गया था। न्याय-वैशेषिक दर्शनों व उनके तर्कशास्त्र की अनेक समानताओं के बावजूद उनमें महत्त्वपूर्ण अन्तर भी थे, जिनकी संक्षिप्त चर्चा आप अगली इकाइयों में पढेंगे।

आपने यह देखा कि न्याय दर्शन का आविर्भाव किन परिस्थितियों में और तर्कशास्त्र की किस परम्परा के अन्तर्गत हुआ, और इसका बीजारोपण व पल्लवन किन-किन दार्शनिक ग्रन्थों के जरिये

हुआ है। अब हम न्याय की विषय वस्तु के परिचयात्मक इतिहास की ओर, यानी कि उसके मुख्य तत्त्वों के परिचय और उनके ऐतिहासिक विकास को समझने की ओर आगे बढेंगे।

1.4 न्याय दर्शन का इतिहास:-

न्याय शास्त्र—

हम देख चुके हैं कि न्याय शास्त्र का इतिहास बीस शताब्दियों में फैला हुआ है। गौतम का न्याय सूत्र पांच अध्यायों में बंटा हुआ है, जिसमें प्रत्येक अध्याय के दो-दो परिच्छेद हैं। इस न्याय सूत्र का भाष्य वात्स्यायन ने लिखा है। वात्स्यायन के अनुसार ग्रन्थ उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा की विधि का अनुसरण करता है। प्रथम अध्याय में सामान्यतः सोलह विषयों का वर्णन है, जिन पर अगले चार अध्यायों में विस्तार से विचार किया गया है। न्याय सूत्र वैदिक विचार धारा के निष्कर्षों को तर्क सिद्धान्तों के आधार पर खड़ा करता है, और उसे उपनिषदों के धार्मिक एवं दार्शनिक मतों के साथ जोड़ता है, और इस प्रकार वह आस्तिक यथार्थवाद का तर्कपूर्ण समर्थन करता है। गौतम के न्याय सूत्र, खासकर उसके प्राचीनतम माने जाने वाले सूत्र ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचनाएँ हैं, हालाँकि न्याय के कुछ सूत्र निश्चित रूप से ईसा काल के बाद रचे गये प्रतीत होते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि वात्स्यायन का न्याय भाष्य न्याय सूत्र की सर्वाधिक चर्चित व सशक्त शास्त्रीय टीका है।

सृष्टि विचार और न्याय—

सृष्टि की उत्पत्ति के कारण अर्थात कारणकार्यवाद की विवेचना सभी दर्शनों की चिन्ता का मुख्य विषय रहा है। स्वाभाविक तौर पर यह विषय दार्शनिकों के मतभेदों और विभाजनों के केन्द्र में रहा है। कार्यकारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिए, क्योंकि कारण की अनुपस्थिति में कार्य का होना असम्भव है। लेकिन दार्शनिक विवाद यहीं तक सीमित नहीं रहता, और वह आगे बढ़कर प्रश्न करता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी क्या अपने कारण में विद्यमान रहता है, अथवा ऐसा नहीं होता। दार्शनिकों द्वारा इस प्रश्न के जो उत्तर दिए गये, उनके आधार पर दर्शन में एक व्यापक विभाजन करना सम्भव है। जो दार्शनिक मानते हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहता है, वे सत्कार्यवादी कहे जाते हैं, और जो ऐसा नहीं मानते वे असत्कार्यवादी कहलाते हैं। इस प्रश्न को केन्द्र में रखकर एक जटिल बहस भारतीय दार्शनिक इतिहास में होती रही है, जिसे आप संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं। असत्कार्यवादियों के अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व 'असत' है, अर्थात् अपने कारण में विद्यमान नहीं है, और इसलिए कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही प्रारम्भ होती है। अपने इसी तर्क के कारण असत्कार्यवादियों को आरम्भवादी भी कहा जाता है। उनकी तार्किक दलील को पारम्परिक तौर पर इस तरह अभिव्यक्त किया जाता हैः उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता का

प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यदि कार्य उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है, तो सत् होने के कारण वह उत्पन्न माना जाएगा, और इस तरह उसकी दोबारा उत्पत्ति पुनरुत्पत्ति होगी, जो व्यर्थ या निरर्थक है। अतः कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से ही आरम्भ होती है। कार्य एक नूतन कृति है, एक नवीन सृष्टि है। यदि घड़ा मिट्टी में, कपड़ा धागे में तथा दही दूध में पहले से ही विद्यमान है तो कुम्हार को मिट्टी से घड़ा बनाने के लिए परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? या फिर धागे खुद ही वस्त्र का काम क्यों नहीं करते? और दूध का स्वाद दही जैसा क्यों नहीं होता?

असत्कार्यवाद का प्रतिपक्ष सत्कार्यवाद कहलाता है, जिसकी मान्यता यह है कि अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। सत्कार्यवादियों के संक्षिप्त तर्क को आम तौर पर इस रूप में व्यक्त किया जाता हैः कार्य कारण में बीज रूप से अन्तर्निहित रहता है, तथा कारण कार्य में स्वभाव रूप से विद्यमान रहता है, इस तरह कार्य कोई नयी सृष्टि नहीं है, बल्कि उसकी उत्पत्ति का अर्थ केवल उसका अभिव्यक्त होना है। संक्षेप में सत्कार्यवाद के अनुसार कारण ही कार्य के रूप में परिवर्तित होता है, और कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैंः कारण की अवस्था उसका अव्यक्त रूप है, जबकि कार्य की अवस्था उसका व्यक्त रूप है। इस प्रकार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत् है, और अपनी इसी मान्यता के कारण इसको सत्कार्यवाद नाम से जाना जाता है।

आप जानते हैं कि दार्शनिक वाद-विवाद जल्दी थमने का नाम नहीं लेता, शायद इसीलिए समाज में दार्शनिकों को 'बाल की खाल निकालने' वाला भी समझ लिया जाता है। बहरहाल, दर्शन के छात्रों को तो कार्यकारणवाद सम्बन्धी बहस के अगले प्रश्न से भी परिचित होना पड़ेगा, जो आगे बढ़कर जिज्ञासा करता है कि कारण का कार्य के रूप में परिवर्तन वास्तविक या तात्त्विक परिवर्तन है, अथवा अवास्तविक या अतात्त्विक परिवर्तन है। जिन दार्शनिकों ने इस परिवर्तन को वास्तविक या तात्त्विक माना है उन्हें 'परिणामवादी' कहा गया है, जबकि इस परिवर्तन को अवास्तविक अथवा अतात्त्विक मानने वालों को 'विवर्तवादी' कहा गया है।

यहां दार्शनिक खण्डन-मण्डन की इस जटिल प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के बजाय हम केवल अब तक के तर्कों को याद रखते हुए, उनके आधार पर भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में जो वर्ग-विभाजन किया गया है, उसका एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे। यह वर्गीकरण कुछ इस प्रकार है—

सांख्य व योग- सत्कार्यवादी,
न्याय व वैशेषिक-असत्कार्यवादी,
वेदान्ती व बौद्ध- विवर्तवादी,
जैन व मीमांसक- सदसत्कार्यवादी
लोकायत- स्वभाववादी।

इस प्रकार, हम यहां एक असत्कार्यवादी दर्शन के इतिहास से, उसके विकासानुक्रम से परिचित होने की चेष्टा कर रहे हैं।

कार्यकारणवाद के सन्दर्भ में बौद्ध, सांख्य और नैयायिक—

आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि न्याय के आविर्भाव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सांख्य व बौद्ध मतों के उसके खण्डन-मण्डन से जुड़ी है। बौद्ध कहा करते थे कि कार्य की उत्पत्ति के बाद कारण तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, जैसे यदि दूध से दही बनता है, तो दही बनने के बाद कारण तत्त्व दूध का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। परन्तु न्याय दर्शन के अनुयायी बौद्धों के इस मत का खण्डन करने के क्रम में एक जटिल तर्क सामने लाते हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैः कारण रूप के विशेष तत्त्व कार्य के तत्त्व पुंज में भी विद्यमान रहते हैं, और कारण के तत्व पुंजों की स्वतन्त्र क्रिया के परिणामस्वरूप कार्य के तत्त्व पुंज की उत्पत्ति हमारे अनुभव और साधारण ज्ञान के विपरीत हैं। दूध में जो श्वेत तत्त्व है वह दही में भी पाया जाता ह, इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि एक क्षण में ही पहला पदार्थ (कारण) नष्ट हो गया, और दूसरा पदार्थ (कार्य) उत्पन्न हो गया।

दूसरी ओर, हम देखते हैं कि नैयायिकों के सिद्धान्त के प्रारम्भिक स्वरूप से ही सांख्य दर्शन की मान्यता के खण्डन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, लेकिन नैयायिकों के इस प्रतिपक्ष को जानने के पहले हमें संक्षेप में यह जान लेना होगा कि सांख्य दर्शन के अनुयायियों का पक्ष क्या था। सांख्य के अनुयायी यह मानते थे कि कार्य केवल कारण का प्रकटीकरण है, और कारण की अवस्था भविष्य में सम्पन्न होने वाले सारे कार्यों की अनुगुप्त स्थिति समाहित किये रहती है। वे अपनी दलील को लोकप्रिय ढंग से व्यक्त करते हुए कहते थे- 'तिल में तेल पहले से विद्यमान रहता है'। नैयायिकों ने सांख्य के अनुयायियों की इस लोकप्रिय दलील को आधारहीन बताया था और कहा था कि तिल का प्रयोग हम तेल की तरह नहीं कर सकते, या मिट्टी के पिण्ड को घड़ा समझकर हम उसमें पानी नहीं भर सकते हैं।

न्याय दर्शन के उद्भव से जुड़े इस दार्शनिक खण्डन-मण्डन की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के बाद चलते-चलते शायद एक और बात का उल्लेख भी आपको दिलचस्प लगेगा, जो इस दर्शन के नामकरण से जुड़ी है। अनुमान लगाया जाता है कि न्याय शब्द की उत्पत्ति अनेक विद्वानों द्वारा की जाने वाली वेदविषयक वार्ताओं व विवादों के सन्दर्भ में हुई होगी। आप ने भी ऐसी कथाएं पढ़ी होंगी, जो भारत के प्राचीन काल में ऐसी अनेक प्रतिद्वन्द्वी शाखाओं के अस्तित्व को दर्शाती हैं, जो अपने प्ररतिपक्षियों को हराकर अपने मत को समाज में स्थापित करने के लिए मनोयोगपूर्वक शास्त्रार्थ किया करती थीं। अब हम न्याय दर्शन की विषय वस्तु के दूसरे महत्त्वपूर्ण तत्त्व से परिचित होंगे और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझने की कोशिश करेंगे। न्याय दर्शन का पदार्थ विचार न्याय दर्शन के पदार्थों से परिचित होने के पहले हमें यह ध्यान देना चाहिए कि वैशेषिकों के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण के विपरीत नैयायिक

विश्व को ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से देखते हैं। न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों का जब हम अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि न्याय ने अपना ध्यान किसी वस्तु के गुणों के वास्तविक अध्ययन पर केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि तर्क और द्वन्द्ववाद की उस प्रक्रिया पर केन्द्रित किया है, जो ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। वैशेषिकों के सात पदार्थों को न्याय दर्शन ने अपने दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेय के अन्दर समाहित कर लिया है। ज्ञान की पद्धति पर नैयायिकों के इसी केन्द्रीकरण को स्पष्ट करते हुए विश्लेषक कहते हैं कि प्रमाण और प्रमेय, यानी कि न्याय के पहले दो पदार्थ ही उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। न्याय की जिज्ञासा इस प्रश्न पर केन्द्रित नहीं है कि वस्तुएं स्वतः क्या हैं, बल्कि उसका जोर इस बात पर है कि कैसे उनकी जानकारी या उनके ज्ञान की सिद्धि संभव है। यहां यह स्पष्ट करने की जरूरत है कि न्याय को वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व पर किंचित मात्र भी सन्देह नहीं था, बल्कि वह मिथ्या ज्ञान के दुष्प्रभावों के प्रति ज्यादा चिंतित था। वह मानता था कि मिथ्या ज्ञान हमें आसानी से भ्रम में डाल सकता है, इसलिए वह वस्तुओं पर विचार करने के नियमों की छानबीन में लग गया था। यह बात न्याय दर्शन के बाकी चौदह पदार्थों के स्वरूप से स्वतः स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वे सभी सत्य की खोज में सहायक हैं, या अतर्कोचित आक्रमणों से उसे बचाने में उपयोगी हैं। इसीलिए कहा जाता है कि न्याय दर्शन में ज्ञान पर सर्वोच्च बल दिया गया है। कहा गया है, 'ऋते सत्यान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना जीवन मुक्ति सर्वथा असम्भव है।

न्यायशास्त्र में पदार्थों के ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। गौतम के अनुसार निःश्रेयस की प्राप्ति अर्थात दुःख और पीड़ा से मुक्ति या मोक्ष सोलह पदार्थों के सत्य को जानने के बाद ही हो सकती है। ये पदार्थ थे- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान। इन पदार्थों में प्रमाण को सबसे पहला स्थान दिया गया है। जबकि ज्ञान की अर्थात प्रमेय को गौण स्थान प्रदान किया गया है। स्पष्ट है कि न्याय प्रणाली प्रथमतः सही ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति निरूपित करने वाला दर्शन है। गौतम सही ज्ञान प्राप्त करने के साधन अर्थात प्रमाण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। न्याय दर्शन तर्कवाद, धर्मनिरपेक्षता और विज्ञान की परम्परा से सम्बन्ध है। यह दर्शन पदार्थ के मूलतत्त्व की अपनी-अपनी परिकल्पनाओं के आधार पर वस्तु-जगत की व्याख्या प्रस्तुत करता है। नैयायिकों ने परमाणुओं के रूप में पदार्थ की परिकल्पना की है। इसीलिए इनके सिद्धान्त परमाणु सिद्धान्त भी कहलाते हैं।

न्याय में स्वीकृत षोडश पदार्थ—

गौतम जब न्याय सूत्र का प्रणयन करते हैं तो सत् के रूप में सोलह पदार्थों की विवेचना करते हैं-

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वभासच्छल जातिनिग्रह स्थानीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त,

सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस प्राप्त होता है।

इन सोलह पदार्थों का ही विस्तृत विवेचन न्यायसूत्र में उपलब्ध होता है। अगली इकाई में आप इसका वृहद अध्ययन कर सकेंगे। इस इकाई में इनका एक संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, ताकि अगली इकाइयों का अध्ययन आपके लिए सरल और सुग्राह्य बनाया जा सके।

प्रमाणः 'प्रमाण की विवेचना न्याय दर्शन का प्रमुख विषय है, जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है उसे प्रमाण कहते हैं। वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। गौतम ने कहा हैः प्रमीयतेऽनेन' इति प्रमाणः अर्थात प्रमा के करण को प्रमाण कहा जाता है, आम भाषा में जिसका अर्थ हुआ कि ज्ञान के मुख्य साधन को प्रमाण कहते हैं। इसके द्वारा ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान सम्भव होता है। न्याय दर्शन के अन्तर्गत चार प्रमाण स्वीकृत किये गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण। इनका विस्तृत विवेचन अगली इकाई में किया जाएगा।

प्रमेयः आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्याभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम। 'प्रमा' अर्थात यथार्थ ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं। इनकी संख्या बारह बताई गई है, और इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग।

संशयः समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरूपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः'। अर्थात विशेषापेक्ष विमर्श ही संशय कहलाता है, जैसे स्थाणु (ठूँठ) और पुरुष (मनुष्य) में कुछ धर्म समान होने के कारण (दिखने में कुछ समानता के कारण) जब भाव (सन्देह) उत्पन्न होता है कि यह ठूठ है अथवा पुरुष, तो नैयायिकों की भाषा में इसे संशय कहा जाता है।

प्रयोजनः 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते प्रमाता (ज्ञान प्राप्त करने वाला) जिस अर्थ को अनुकूल या प्रतिकूल निश्चय कर प्रवृत्त हो (आगे बढ़े), उसे प्रयोजन कहते हैं। दृष्टान्तः 'लौकिकपरीक्षकणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'।

अर्थात लौकिक पुरुष और विशेष पुरुष अगर किसी वस्तु को एक सा समझते हों, तो उसे दृष्टान्त कहा जाता है। आम भाषा में कहें तो वादी तथा प्रतिवादी जिस विषय में एकमत हों उसे दृष्टान्त कहा जाता है। आगे की इकाई में इसके भेदों का आप विस्तार से अध्ययन करेंगे। **सिद्धान्तः 'तन्त्राधिकरणम्युपगमसंस्थितिः सिद्धन्तः'।** विशेष रूप से परीक्षण किया गया अथवा प्रामाणिक रूप से स्वीकृत विषय सिद्धान्त कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है जिसका विस्तृत विवेचन हम अगली इकाई में करेंगे। अवयवः '**प्रतिज्ञाहेतूदाहरणापनयनिगमान्यवयवाः**'। आप पहले ही जान

चुके हैं कि न्याय दर्शन में चार प्रमाण गिनाए गए हैं, जिनमें दूसरा प्रमाण अनुमान कहा जाता है। अनुमान प्रमाण के पांच भेद या खण्ड हैं, जिन्हें अवयव कहा जाता है। सामान्य तौर पर कहें तो जिन वाक्यों के माध्यम से हम अनुमान ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे अवयव कहलाते हैं, जिनके नाम हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

तर्कः अविज्ञातत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। भली-भांति न जाने हुए अर्थ को जानने की जिज्ञासा के कारण उस पर सम्यक विचार करना तर्क कहलाता है।

निर्णयः विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः। विचार प्रक्रिया पूरी होने के पश्चात पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय करना 'निर्णय' कहलाता है। न्याय दर्शन में वाद-विवाद के तर्क की अवस्था तक पहुंचने तक किसी निष्कर्ष पर व्यक्ति नहीं पहुचता, जबकि निर्णय की अवस्था पर पहुंचते ही वह निष्कर्ष या निश्चय प्राप्त कर लेता है।

वादः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्तविरुद्धः पंचावयोपपन्न पक्षप्रतिपक्ष परिग्रहो वादः। शास्त्रार्थ के समय वादी तथा प्रतिवादी दो पक्ष होते हैं, ये दोनों जब तत्त्वज्ञान के लिए शास्त्रार्थ करते हैं तो उसे वाद कहते हैं। वाद के दौरान पांचों अवयवों वाली युक्तियां प्रस्तुत की जाती हैं। निवृत्त का निषेध तथा व्यवस्थित की स्थापना ही वाद का लक्ष्य है।

जल्पः यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्पः। जब दोनों पक्ष शास्त्रार्थ में विजय की अभिलाषा रखते हुए अपने ही पक्ष को सिद्ध करने के लिए कथा करते हैं तो यह जल्प कहलाती है।

वितण्डाः स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। स्वपक्ष की स्थापना से विरहित होकर परपक्ष की स्थापना कथा वितण्डा कहलाती है, यानी कि जब प्रतिवादी अपनी खीझ में पूरी तरह निरर्थक विवाद करने लगे, तो उसे वितण्डा कहा जाता है।

हेत्वाभासः हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः। ते इमे सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः। हेत्वाभास का अर्थ होता है हेतु न होते हुए भी हेतु की प्रतीति होना। इस हेतु से जो अनुमान ज्ञान होता है वह अयथार्थ अनुमान है। उदाहरण के तौर पर वितण्डा के सभी हेतु अयुक्त होने के कारण हेत्वाभास रह जाएंगे। **छलः 'वचनविधातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्'** अर्थात प्रतिवादी के अभिमत अर्थ से विरुद्ध कल्पनोपपादन वचनविधान छल कहलाता है। यह स्थिति तब आती है जब प्रतिवादी वादी के वाक्यों का विरुद्धार्थ करके उसको छल में डालने का प्रयत्न करता है, यानी कि अन्य अभिप्राय से कही गई बात को अन्य अर्थ में लेना छल कहलाता है। जैसे किसी ने कहा- **'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः'** (देवदत्त

के पास नया कम्बल है) यहां प्रतिवादी 'नवकम्बल' का अर्थ नया कम्बल न कर नौ कम्बलों वाला कर देता है। छल तीन प्रकार का होता है, जिन्हें वाक्छल, सामान्यछल तथा उपचारछल कहा गया है।

जतिः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। जब प्रतिवादी व्याप्ति निरपेक्ष साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करने लगता है, वह जाति अवस्था में आ जाता है।

निग्रहस्थानः विप्रतिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति की अवस्था 'निग्रहस्थान' कहलाती है। विपरीत या निन्दित प्रतिपादन 'विप्रतिपत्ति' कहा जाता है। अर्थात वादी जहां प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष का आवश्यक खण्डन न करे, वह निग्रहस्थान कहलाता है। आम भाषा में कहें तो निग्रहस्थान वह अवस्था है जब प्रतिवादी को रोककर शास्त्रार्थ बन्द किया जाता है।

न्याय दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य—

हम न्याय दर्शन के ग्रन्थों के विकासानुक्रम को पहले ही जान चुके हैं। अब न्याय दर्शन के प्रमुख आचार्यों के विषय में भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना हमारे लिए लाभदायी रहेगा। लेकिन इनकी रूपरेखा को देखने के पहले भारतीय दर्शन सम्बन्धी दो सामान्य बातें ध्यान में रखना उपयोगी होगा। पहली बात इन आचार्यों की ऐतिहासिक तिथि से सम्बन्धित है। स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में हमारे प्राचीन इतिहास के ग्रन्थों का तिथि निर्धारण काफी जटिल मसला बना हुआ है, और इसलिए ऐसा करते समय हमें अधिकांशतया अनुमान पर भरोसा करना पड़ता है। दूसरी बात इन मनीषियों के आत्मचरित से सम्बन्धित है। कारण चाहे जो रहे हों, लेकिन हमारी ज्ञान परम्परा में मनीषियों द्वारा अपने बारे में कुछ कहने का चलन नहीं मिलता है। इसलिए ग्रन्थों के रचयिताओं के निजी जीवन के बारे में नगण्य जानकारियां ही हमें प्राप्त हो सकी हैं।

प्राचीन न्याय के आचार्य—

1. गौतमः न्याय सूत्र के रचयिता का नाम गौतम है। इनका दूसरा नाम अक्षपाद है। सर्वाधिक विद्वान इनको मिथिलानिवासी मानने के पक्ष में हैं। न्याय सूत्र पांच अध्याय में विभक्त है, और प्रत्येक अध्याय के दो आह्निक (भागों) में।
2. वात्स्यायनः न्याय सूत्र के सर्वप्रमुख भाष्यकार हैं। भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि इससे पूर्व भी कोई व्याख्या ग्रन्थ था।
3. उद्योतकरः दिङनाग के विचारों का खण्डन करने के लिए उद्योतकर ने न्याय भाष्य की व्याख्या के रूप में न्यायवार्तिक लिखा

4. वाचस्पति मिश्रः न्यायवार्तिक के क्लिष्ट होने के कारण वाचस्पति ने 'तात्पर्य टीका' का प्रणयन किया। वैशेषिक को छोड़कर पंचदर्शनों पर इनकी विरचित टीकाएं प्रामाणिक, प्रौढ़ तथा पांडित्यपूर्ण हैं।

5. जयन्त भट्टः इनकी रचना न्यायमंजरी है। विरोधी मतावलम्बियों का खण्डन जयन्त भट्ट ने रोचक भाषा में किया है।

6. भासर्वज्ञः 'न्याय सार' की रचना कर भासर्वज्ञ ने न्याय जगत में अद्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया। स्वार्थ तथा परार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पक्षाभास एवं दृष्टान्ताभास का वर्णन तथा आत्मा की निरतिशय आनन्दोपलब्धि मुक्ति की कल्पना जैसे इनके सिद्धान्त नैयायिक जगत में सर्वथा अपूर्व हैं।

7. उदयानाचार्यः उदयन की 'तात्पर्य परिशुद्धि' तात्पर्य टीका की एक बहुमूल्य व्याख्या है। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं- आत्मतत्त्व विवेक तथा न्याय कुसुमांजलि। न्याय कुसुमांजलि मुख्य रूप से ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में प्रमाण जुटाने के उद्देश्य से लिखी गई।

नव्य न्याय के आचार्य—

नव्य न्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय एक ऐसे रत्न थे जिन्होंने प्राचीन न्याय की धारा पलट कर 'नव्य न्याय को जन्म दिया। न्याय सूत्र जहां पदार्थों के विवेचन पर बल देता है वहीं नव्य न्याय में प्रमाण विचार सर्वप्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है। इनकी रचना तत्त्व चिन्तामणि सर्वाधिक लोकप्रिय है। तत्त्वचिन्तामणि के रचना काल से न्याय परम्परा का नव्य युग प्रारम्भ होता है। गंगेश के अनुयायियों में गिनाने योग्य हैं वासुदेव, सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर तथा जगदीश।

अभी तक आपने देखा कि न्याय दर्शन मुख्य रूप से तर्क विद्या पर बल देता है। तर्कप्रधान प्रणाली के आधार पर ही इस दर्शन का नाम तर्क अथवा न्याय पड़ा। इसीलिए वात्स्यायन ने भी लिखा है कि 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्ः साङवीक्षा' अर्थात् प्रमाणों से अर्थ परीक्षण न्याय कहलाता है। वे प्रमाण, प्रत्यक्ष तथा आगम के अनुकूल अनुमान को ही आन्वीक्षिकी विद्या कहते हैं।

बोध प्रश्न

न्याय दर्शन के प्रवर्तक कौन थे?

वितण्डा किस श्रेणी में आती है?

न्याय के अनुसार पदार्थों की संख्या कितनी है?

निःश्रेयस किसे कहते हैं?

1.5 पारिभाषिक शब्द:-

आन्वीक्षिकी - तर्क विद्या

पक्षाभास	-	पक्ष की तरह प्रतीत होने वाला
दृष्टान्ताभास	-	दृष्टान्त अथवा उदाहरण की तरह प्रतीत होने वाला
नव्य न्याय	-	न्याय दर्शन की अवान्तर प्रणाली
अवयव	-	अंग
अन्तरंग साक्ष्य	-	भीतरी साक्ष्य
प्रविधि	-	तरीका

1.6 सारांश:-

आपने अभी तक न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास पढ़ा। इसको पढ़ने के बाद आपको यह ज्ञात हुआ कि न्याय दर्शन वेदों में विश्वास रखने के कारण आस्तिक दर्शन की श्रेणी में आता है। तर्क प्रधान होने के कारण इसका दूसरा नाम आन्वीक्षिकी भी है। परमाणुओं के संयोग से निर्मित इस जगत की व्याख्या के कारण इसे वस्तुवादी दर्शन भी कहा जाता है। न्याय शास्त्र भी दो भागों में बंटा हुआ है। प्राचीन न्याय और नव्य न्याय। प्राचीन न्याय के प्रवर्तक महर्षि गौतम तथा नव्य न्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय थे। न्याय दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों की स्थापना भी तीसरी शताब्दी से पहले हो चुकी थी। न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों की संक्षिप्त चर्चा भी हम इस इकाई में कर चुके हैं, जिनका विस्तृत अध्ययन आप आगे की इकाई में करेंगे।

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर:-

1. गौतम, 2. कथा, 3. सोलह, 4. मुक्ति

1.8 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1. न्याय दर्शन के संक्षिप्त इतिहास पर प्रकाश डालिए।

2. न्याय दर्शन के अनुसार सोलह पदार्थों का संक्षेप में वर्णन कीजिए

3. प्रमाण किसे कहते हैं, व्याख्या कीजिए।

इकाई 2. न्याय दर्शन तर्कभाषा - प्रमेयों के नाम, प्रमाण, कारण एवं उनका स्वरूप- मूल पाठ, अर्थ एवं व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य,
2.3 न्याय दर्शन- परिचय
2.4 प्रमेय, विस्तृत व्याख्या
2.5 प्रमाण विस्तृत व्याख्या
    2.5.1 प्रत्यक्ष प्रमाण
    2.5.2 अनुमान प्रमाण
    2.5.3 उपमान प्रमाण
    2.5.4 शब्द प्रमाण
2.6 कारण और उनके स्वरूप की व्याख्या
    2.6.1 कारण और उनके स्वरूप की व्याख्या
    2.6.2 समवायि कारण
    2.6.3 असमवायि कारण
    2.6.4 निमित्त कारण
2.7 सारांश
2.8 शब्दावली
2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना:-

न्यायदर्शन की पूर्व इकाई में आप प्राचीन न्याय और नव्य न्याय के इतिहास तथा उनकी तत्त्वमीमांसा का विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं। वहां आपने यह देखा होगा कि सूत्र पद्धति का अनुसरण कर लिखे गए ग्रन्थ प्राचीन न्याय, और उसके विपरीत स्वतन्त्र रूप से लिखे गए ग्रन्थ नव्य न्याय की श्रेणी में आते हैं। इस आधार पर तर्कभाषा को नव्य न्याय का ग्रन्थ माना जाता है।

आपने यह भी पढ़ा है कि न्याय एक वस्तुवादी दर्शन है, जिसकी मूल प्रस्थापनाएं तर्क के द्वारा सिद्ध की जाती हैं। तर्क पर अत्यधिक जोर देने के कारण ही इसे तर्क विद्या भी कहा जाता है। तर्कप्रधान ग्रन्थ होने के कारण न्याय शास्त्र पर आधारित ग्रन्थों का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। आप न्याय दर्शन से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का पहली इकाई में अध्ययन कर चुके हैं, और प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय के इतिहास पर भी दृष्टि डाल चुके हैं।

महर्षि गौतम का 'न्याय सूत्र' न्याय दर्शन का पहला ग्रन्थ है, जिसे हम प्राचीन न्याय कहते हैं। प्राचीन और नव्य का भेद करते समय आपने यह भी देखा कि गौतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए सोलह पदार्थों का ज्ञान आवश्यक मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार सोलह पदार्थों के सत्य को जान लेने के बाद ही निःश्रेयस अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर पाना सम्भव था। नव्य न्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय ने 'तत्व चिन्तामणि' नामक लोकप्रिय ग्रन्थ लिखा था, जिसे प्राचीन न्याय की धारा पलटने वाला ग्रन्थ माना गया है। 'तत्वचिन्तामणि' के रचना काल को ही न्याय परम्परा के नव्ययुग का प्रारम्भ माना जाता है। न्याय सूत्र जहां सोलह पदार्थों के विवेचन पर बल देता है वहीं नव्य न्याय ज्ञान के साधन को अर्थात प्रमाण विचार को सर्वप्रमुख स्थान पर आसीन करता है।

आपको पता है कि हम इस इकाई में न्याय दर्शन के प्रमेयों के नाम, प्रमाण, कारण और स्वरूप सम्बन्धी अपने अध्ययन को तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर आगे बढ़ाएंगे। हमारी आधार पुस्तक तर्कभाषा पं. केशव मिश्र द्वारा प्रणीत बारहवीं शताब्दी का एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें न्याय के मुख्य पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है। तर्कभाषा में न्याय और वैशेषिक दोनो ही दर्शन सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। न्याय शास्त्र के समस्त विषयों का सम्पूर्ण वर्णन न होने के कारण 'तर्कभाषा' को न्याय का 'प्रकरण ग्रन्थ' यानी कि सम्बन्धित ग्रन्थ कहना ही उचित होगा। प्रकरण ग्रन्थ का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

शास्त्रैकदेशसम्बद्ध शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों की वैचारिक संरचना समान है, इसलिए प्रकरण ग्रन्थ प्रायः न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों के पदार्थों का सम्मिलित वर्णन करते हैं। हालांकि उनमें कुछ ग्रन्थ न्याय को प्रधान और वैशेषिक को गौण स्थान देते हैं, तो अन्य ग्रन्थ अपने विवेचन में वैशेषिक को प्रमुख व न्याय को गौण स्थान देते हैं।

पहली इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि न्याय दर्शन में प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थों का वर्णन मिलता है, जबकि वैशैषिक दर्शन में द्रव्य इत्यादि सात पदार्थों का वर्णन किया गया है। न्याय को प्रधानता देने वाले ग्रन्थ न्याय के प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थों का प्रमुखता से प्रतिपादन करते हैं। न्याय के इन पदार्थों में प्रमेय को दूसरा पदार्थ माना गया है, जिसके अनेक भेद भी गिनाए जाते हैं, इन भेदों में एक 'अर्थ' प्रमेय भी है, जिसके वर्णन में वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित द्रव्य इत्यादि छह पदार्थों के भी विवेचन समाहित मिलते हैं। न्याय के प्रकरण ग्रन्थों में तर्कभाषा को एक न्यायप्रधान ग्रन्थ माना जाना चाहिए।

2.2 उद्देश्य:-

इस इकाई के अन्तर्गत आप न्याय शास्त्र मे वर्णित सोलह पदार्थों से परिचित होंगे। इसके अध्ययन के बाद आप—

- न्याय के द्वितीय पदार्थ यानी कि प्रमेय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- नव्य न्याय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग प्रमाण शास्त्र के विस्तृत विवेचन से परिचित होंगे।
- दार्शनिक भाषा में कारण किसे कहते हैं, उनके कितने भेद होते हैं, इसका अध्ययन कर सकेंगे।

2.3 न्याय दर्शन- परिचय:-

न्यायदर्शन सम्बन्धी बुनियादी बातों को हम अध्ययन की प्रथम इकाई में जान चुके हैं, लेकिन प्रमेयों के विस्तृत वर्णन में जाने के पहले उन्हें दोहरा लेना लाभदायक होगा। आपको यह याद होगा कि वैशेषिकों के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण के विपरीत नैयायिक विश्व को ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से देखते हैं। न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों का जब हम अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि न्याय ने अपना ध्यान किसी वस्तु के गुणों के वास्तविक अध्ययन पर केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि तर्क और द्वन्द्ववाद की उस प्रक्रिया पर केन्द्रित किया है, जो ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। वैशेषिकों के छह पदार्थों को न्याय दर्शन ने अपने दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेय के अन्दर समाहित कर लिया है। ज्ञान की पद्धति पर नैयायिकों के इसी केन्द्रीकरण को स्पष्ट करते हुए विश्लेषक कहते हैं कि प्रमाण और प्रमेय, यानी कि न्याय के पहले दो पदार्थ ही उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। न्याय की जिज्ञासा इस

प्रश्न पर केन्द्रित नहीं है कि वस्तुएं स्वतः क्या हैं, बल्कि उसका जोर इस बात पर है कि कैसे उनकी जानकारी या उनके ज्ञान की सिद्धि संभव है। यहां यह स्पष्ट करने की जरूरत है कि न्याय को वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व पर किंचित मात्र भी सन्देह नहीं था, बल्कि वह मिथ्या ज्ञान के दुष्प्रभावों के प्रति ज्यादा चिंतित था। वह मानता था कि मिथ्या ज्ञान हमें आसानी से भ्रम में डाल सकता है, इसलिए वह वस्तुओं पर विचार करने के नियमों की छानबीन में लग गया था। यह बात न्याय दर्शन के बाकी चौदह पदार्थों के स्वरूप से स्वतः स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वे सभी सत्य की खोज में सहायक हैं, या अतर्कोचित आक्रमणों से उसे बचाने में उपयोगी हैं। इसीलिए कहा जाता है कि न्याय दर्शन में ज्ञान पर सर्वोच्च बल दिया गया है। कहा गया है, 'ऋते सत्यान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना जीवन मुक्ति सर्वथा असम्भव है।

न्यायशास्त्र में पदार्थों के ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। गौतम के अनुसार निःश्रेयस की प्राप्ति अर्थात दुःख और पीड़ा से मुक्ति या मोक्ष सोलह पदार्थों के सत्य को जानने के बाद ही हो सकती है। ये पदार्थ थे- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान। इन पदार्थों में प्रमाण को सबसे पहला स्थान दिया गया है। जबकि ज्ञान के विषय को अर्थात 'प्रमेय' को गौण स्थान प्रदान किया गया है। स्पष्ट है कि न्याय प्रणाली प्रथमतः सही ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति निरूपित करने वाला दर्शन है। गौतम सही ज्ञान प्राप्त करने के साधन अर्थात प्रमाण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। न्याय दर्शन तर्कवाद, धर्मनिरपेक्षता और विज्ञान की परम्परा से सम्बन्ध है। यह दर्शन पदार्थ के मूलतत्त्व की अपनी-अपनी परिकल्पनाओं के आधार पर वस्तु-जगत की व्याख्या प्रस्तुत करता है। नैयायिकों ने परमाणुओं के रूप में पदार्थ की परिकल्पना की है। इसीलिए इनके सिद्धान्त परमाणु सिद्धान्त भी कहलाते हैं। गौतम जब न्याय सूत्र का प्रणयन करते हैं तो सत् के रूप में सोलह पदार्थों की विवेचना करते हैं—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वभासच्छल जातिनिग्रह स्थानीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। अर्थात प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस प्राप्त होता है।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने अपने प्रथम सूत्र में ही न्याय के सोलह पदार्थों का जिक्र करते हुए कहा है कि ''प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति।'' अर्थात प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

2.4 प्रमेय, विस्तृत व्याख्या:-

आपने देखा होगा कि तर्कभाषा में पहले विस्तार के साथ प्रमाण निरूपण किया गया है, और उसके बाद न्याय दर्शन के द्वितीय पदार्थ अर्थात प्रमेय का विवेचन वहां किया गया है। सबसे पहले वह न्याय के इस सूत्र को उद्धृत करती है—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्

यहां न्याय दर्शन के दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेय के बारह भेद मिलते हैं, और उनके नाम इस प्रकार हैं- 1. आत्मा 2. शरीर 3. इन्द्रिय 4. अर्थ 5. बुद्धि 6. मन 7. प्रवृत्ति 8. दोष 9 प्रेत्यभाव 10. फल 11 दुःख और 12 अपवर्ग। आप न्याय दर्शन की इस अध्ययन इकाई में प्रमेय, प्रमाण और कारण की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करेंगे, और इनका विस्तृत अध्ययन अगली इकाइयों में कर सकेंगे। आइए अब हम प्रमेयों का अध्ययन शुरू करें। जैसा आप जान चुके हैं, पहला प्रमेय आत्मा है, तर्कभाषाकार ने जिसके बारे में कहा है:

तत्रात्मत्वसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च। स च मानसप्रत्यक्षः। विप्रतिपत्ती तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः। तथा हि बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्। गुणश्च गुण्याश्रित एव।

केशवमिश्र आत्मा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मा वह है जिसमें आत्मत्व रहता है। वह देह, इन्द्रिय आदि से पृथक रहती है, और प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्माएं अवस्थित रहती हैं, और वह नित्य व व्यापक है। अपनी आत्मा की अनुभूति आप मानस प्रत्यक्ष से करते हैं, तथा दूसरे की आत्मा का ज्ञान बुद्धि आदि युक्ति द्वारा अनुमान से प्राप्त होता है। गुण गुणी के आश्रित रहते हैं, और बुद्धि इत्यादि गुण अनित्य हैं व आत्मा के आश्रित हैं। ध्यान देने की बात कि यहां आत्मा स्वयं में चेतन स्वरूप नहीं मानी गई है, बल्कि चेतना उसका आगन्तुक गुण माना गया है। दूसरा प्रमेय शरीर को माना गया है। शरीर का लक्षण करते हुए केशव मिश्र कहते हैं—

'तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि 'शरीरम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद्भोगायतनं तदेव शरीरम्। चेष्टाश्रयो वा शरीरम्।

'तर्कभाषा' में आत्मा के भोग के आश्रय को 'शरीर' कहा है, उन्होने शरीर के लिए अन्त्यावयवी विशेषण लगाकर स्पष्ट कर दिया है कि उनका प्रयोजन शरीर के किसी अंग से न होकर अन्त्य अवयवी सम्पूर्ण शरीर है। सुःख दुःख में से किसी एक के साक्षात्कार को भोग कहा जाता है,

और उस भोग का आश्रय ही शरीर कहा जाता है। तर्कभाषाकार ने न्यायसूत्रकार की परम्परा में शरीर को चेष्टा का भी आश्रय बताया है। तीसरे प्रमेय का नाम 'इन्द्रिय' है। तर्कभाषाकार कहते हैं—

'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियं 'इन्द्रियम'। तानि चेन्द्रियाणि षट्। घ्राणरसन चक्षुस्त्वक्रोतमनांसि'। इन्द्रिय का विवेचन करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं कि शरीर से संयुक्त, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों से गृहीत न होने वाले ज्ञान का (करण) साधन 'इन्द्रिय' कहलाता है। उन्होंने छह इन्द्रियों को मानते हुए उनके लक्षण गिनाए हैं, और घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र जैसी पांच बाह्येन्द्रियों के अलावा एक अन्तरिन्द्रिय मन को भी शामिल किया है।

न्यायशास्त्र के दूसरे पदार्थ प्रमेय के बारह भेदों को जानने के क्रम में अभी तक आपने आत्मा, शरीर और इन्द्रिय क्या हैं, इस प्रश्न का उत्तर जाना है। अब हम आगे बढ़ते हुए न्यायशास्त्र के चौथे प्रमेय 'अर्थ' की चर्चा करेंगे, जिसका विवेचन तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है—

अर्थाः षट्पदार्थाः ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः।

अर्थात् अर्थ की संख्या छः होती है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- द्रव्य, गुण, कर्म , सामान्य, विशेष और समवाय। इस तरह हम देखते हैं कि तर्कभाषाकार ने वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का निरूपण इस 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत कर दिया है, हालांकि यह भी ध्यान देने वाली बात है कि तर्कभाषाकार ने वैशेषिक दर्शन के सातवं पदार्थ अभाव का यहां उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने यहां स्पष्ट किया है कि प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थ वैशेषिक के इन पदार्थों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, लेकिन प्रयोजनवश उन्हें अलग से बताया जा रहा है। इस प्रयोजन को वात्स्यायन ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि प्रमाण आदि पदार्थों का निरूपण न्याय में न किया जाय तो न्याय विद्या के स्वतन्त्र स्वरूप की रक्षा करना मुश्किल हो जाएगा। जैसा आप जान चुके हैं, पांचवे प्रमेय का नाम बुद्धि है। बुद्धि का विवेचन तर्कभाषा इस प्रकार करती है—

बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याभिधीधते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवः स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधो यथार्थोऽयथार्थश्चेति। बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि पर्यायवाची शब्दों से जिसको सम्बोधित किया गया है, वह बुद्धि है। अथवा अर्थ के प्रकाशक को बुद्धि कहते हैं। वह अनुभव और स्मरण दो प्रकार की होती है। अनुभव भी दो प्रकार का होता है- यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान भी यथार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, या फिर यथार्थ का अनुमानस्वरूप अनुभव हो सकता है- उदाहरणस्वरूप धुएं को देखकर आग के यथार्थ का अनुभव। हम यहां पर इनका विस्तृत विवेचन नहीं करेंगे, क्योंकि वह आपकी अगली अध्ययन इकाइयों का विषय है।

छठा प्रमेय मन है। मन का लक्षण तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है—**अन्तरिन्द्रियं मनः। तश्चोक्तमेव।** अर्थात अन्तरिन्द्रय को मन कहा जाता है, और ऐसा कहा जा चुका है। जैसा कि हम देख चुके हैं इन्द्रिय प्रमेय का वर्णन करते हुए तर्कभाषाकार ने छह इन्द्रियों को गिनाया था, जिनमें पांच बाह्येन्द्रियों के बाद मन को छठी इन्द्रिय बताया गया था।

सातवां प्रमेय प्रवृत्ति है, जिसके बारे में तर्कभाषा में कहा गया है—

प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयीयागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।

धर्म अधर्म रूप यागादि क्रिया (और उससे उत्पन्न धर्माधर्म) प्रवृत्ति कहलाते हैं। यह प्रवृत्ति ही जगत के व्यवहार का साधक होती है।

आठवां प्रमेय द्वेष है। तर्कभाषाकार कहते हैं— **दोषाः रागमोहाः।** न्यायशास्त्र के अनुसार राग, द्वेष और मोह ये तीन दोष होते हैं। राग इच्छा को कहते हैं 'द्वेष' क्रोध को कहते हैं। मोह मिथ्या ज्ञान अर्थात विपर्यय को कहते हैं।

नवां प्रमेय प्रेत्यभाव है। तर्कभाषा इसका वर्णन करते हुए कहती हैः पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः अपूर्वदेहसंघातलाभः।मर कर पुनः उत्पन्न होना ही प्रेत्यभाव कहलाता है, और पुनर्जन्म की यह अवस्था आत्मा के पूर्वशरीर की समाप्ति और नवीन शरीर की प्राप्ति है।दसवां प्रमेय फल है, जिसके बारे में तर्कभाषा कहती है—

फलं पुनर्भोगः सुखदुःखान्यतर साक्षात्कारः। अर्थात सुख या दुःख में किसी के भोग के अनुभव रूप को फल कहते हैं। ग्यारहवां प्रमेय दुःख है। तर्कभाषा कहती है— पीड़ा 'दुःखम' अर्थात पीड़ा को दुःख कहते हैं। अन्तिम प्रमेय अपवर्ग है जिसे मोक्ष भी कहा जाता है। अपवर्ग का लक्षण तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है-मोक्षोऽपवर्गः। स च एकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। अर्थात् मोक्ष इक्कीस प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति है।

अब आप तर्कभाषा के विवेचन के आधार पर न्याय शास्त्र के दूसरे पदार्थ प्रमेय के बारह भेदों का सामान्य परिचय प्राप्त कर चके हैं। हम अध्ययन की वर्तमान इकाई में ही प्रमाण शास्त्र के विवेचन की चर्चा करेंगे। नव्य न्याय का ग्रन्थ होने के कारण तर्कभाषा प्रमेय की अपेक्षा प्रमाणों के विवेचन पर अधिक बल देती है। गौतम प्रणीत न्यायसूत्र के जिस सूत्र में पदार्थों की गिनती बताई गई है, वहांसबसे पहले पदार्थ के रूप में प्रमाण का उल्लेख किया गया है, जो उसके महत्व को भी उद्घाटित करता है। इस सूत्र में पदार्थों का क्रम इस प्रकार गिनाया गया है—

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितन्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः।

2.5 प्रमाण विस्तृत व्याख्या:-

प्रमाण का लक्षण करते हुए केशव मिश्र कहते हैं- प्रमाकरणं प्रमाणम्। अर्थात् प्रमा (ज्ञान) के करण (साधन) को प्रमाण कहते हैं, अर्थात ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। इसके बाद आपको प्रश्न करना चाहिए कि प्रमा क्या है। तर्कभाषाकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है- यथार्थोनुभवः प्रमा अर्थात यथार्थ अनुभव प्रमा है। तर्कभाषा ने प्रमा को यथार्थ (अनुभव) बताकर उससे संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान को अलग कर दिया है, वहीं उसे अनुभव बताकर उसे स्मृति से भी अलग कर दिया है। प्रमेयों की चर्चा करते समय हमने ऊपर पहले ही जान लिया है कि ज्ञान या बुद्धि के दो भेद हैं- अनुभव और स्मृति। संक्षेप में पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा कहलाता है। करण (साधन) क्या है इसको स्पष्ट करते हुए तर्कभाषाकार ने कहा है—

साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः।

अर्थात् साधकतम को करण कहते हैं और अतिशयत साधक अर्थात सर्वोत्कृष्ट कारण को करण कहते हैं। कारण की व्याख्या को अधिक स्पष्ट करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं कि कारण वह है कार्य के होने के पहले जिसकी सत्ता का होना अनिवार्य है। न्याय दर्शन में तीन प्रकार के कारण गिनाए गए हैं, लेकिन उनका अध्ययन हम अभी स्थगित रखेंगे, क्योंकि पहले प्रमाण-विचार का अध्ययन कर लेना हमारे लिए उपयोगी होगा।

आइए अब हम प्रमाणों के अपने अध्ययन को हम आगे बढ़ाते हैं। यह जान लेने के बाद कि 'प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं', अब हम यह जानेंगे कि वे कितने प्रकार के होते हैं। न्याय दर्शन में प्रमाण के चार भेद बताए गए हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। तथा च न्यायसूत्रम—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। स्वाभाविक तौर पर सबसे पहले आप प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन से परिचित होना चाहेंगे। केशव मिश्र ने प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन इस प्रकार किया है—

सक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा-सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्।तस्याः करणम् त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः कदाचिद् ज्ञानम्। साक्षात्कारिणी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं। और साक्षात्कारिणी प्रमा इन्द्रियजन्य होती है। वह सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार की होती

है। उसके करण तीन प्रकार के होते हैं- 1. कभी इन्द्रिय , कभी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष और कभी निर्विकल्पक ज्ञान। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे की इकाई में करेंगे।

प्रमाण का दूसरा भेद अनुमान प्रमाण है, जिसकी अब हम चर्चा करेंगे। नैयायिक अनुमान प्रमाण को महत्वपूर्ण मानते हैं। अनुमान का लक्षण करते हुए तर्कभाषाकार केशव मिश्र कहते हैं—

लिंगपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंगपरमर्शोऽनुमानम् तच्च धूमादिनमनुमितिं प्रति करणत्वात्। अगन्यादिज्ञानमनुमितिः। तत्करणं धूमादिज्ञानम्। किं पुनलिंगं कश्च तस्य परामर्शः उच्यते। व्याप्ति वलेनार्थगमकं लिंगम्। यथा धूमोऽग्नेर्लिंगम्। तथाहि यत्र धूमसतत्राग्निरिति साहयर्च नियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति। अतो व्याप्तिवलेनाग्नयुपमाकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिंगम्। तस्य तृतीयानं परामर्षः। तथाहि प्रथमं तावन्महानसादेऽभूयो - भूयो धूमं पश्यन् वहिनं पश्यति। तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति, यत्र धूमस्तत्रग्निरिति।

लिंग परामर्श को अनुमान कहते हैं। जिससे अनुमिति हो, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिंग (चिन्ह को देखकर ज्ञान का बोध) हो, उसे अनुमान कहते हैं। इस तरह अनुमान का अर्थ है लिंग परामर्श, और यह लिंग परामर्श धूमादि ज्ञान है, (धुएं को देखकर हम अग्नि का ज्ञान कर लेते हैं)। अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है। लिंग और परामर्श की व्याख्या करते हुए केशव मिश्र कहते हैं व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोधक हो उसे लिंग कहते हैं। जैसे धूम अग्नि का लिंग है। जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है, यह साहचर्य नियम है। इसी साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। इसलिए व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने से धूम अग्नि का लिंग होता है। अनुमान प्रमाण का विशद विवेचन न्याय शास्त्र में किया गया है, लेकिन हम यहां उसकी चर्चा को और आगे नहीं बढ़ाएंगे, क्योंकि उसका विस्तृत अध्ययन आपको न्याय दर्शन की अपनी पांचवी इकाई में करना है।

तर्कभाषा के अनुसार तीसरा प्रमाण उपमान प्रमाण है। केशव मिश्र ने उपमान का लक्षण इस प्रकार किया है—

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्य विशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। यथा गवयमजाननपि नागरिका 'यथा गौस्तया गवय' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात्पुरुषाच्क्रत्वा वनं गतो वाक्यार्थ स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमिति करणतवात्। गोसादृश्य पिण्डज्ञानानतरमयमसो गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध प्रतीतिरूपमितिः।

अतिदेश वाक्य (यथा गौस्तया गवयः) के अर्थ के स्मरण के साथ गो सादृश्य विशिष्ट पिण्ड अर्थात सवय प्राणी का ज्ञान उपमान प्रमाण है। गौ के धर्म (चरित्र) को गवय (नील गाय) में अतिदेश (व्याप्त) करने वाला वाक्य अतिदेश वाक्य कहलाता है। भाषा की वजह से जटिल लगने वाले इस वाक्य को एक उदाहरण के जरिए तर्कभाषाकार ने आसानी से समझाने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि गवय (नील गाय) को न जानने वाला कोई नागरिक किसी वनवासी पुरुष से 'जैसी गाय होती है वैसा गवय होता है' जैसा (अतिदेश) वाक्य सुनने के बाद अगर वन में जाता है, और वहां किसी गोसादृश्य पिण्ड (नील गाय) को देखता है, और उस पिण्ड को देखकर उसे वनवासी से सुना हुआ (अतिदेश) वाक्य याद आ जाता है, तब उस वाक्य का स्मरण उस गोसादृश्य पिण्ड (नील गाय) के ज्ञान का कारण बनता है। यह अतिदेश वाक्य उपमिति का कारण होने से उपमान प्रमाण कहलाता है। गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड के ज्ञान के बाद यह पिण्ड ही गवयपदवाच्य है। इस प्रकार की संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति ही उपमिति है।

इस प्रमाण को सरल भाषा में आप इस तरह दोबारा समझ सकते हैं। किसी शहरी बाशिन्दे ने जंगल में रहने वाली नील गाय को कभी न देखा हो, लेकिन उसने किसी वनवासी पुरुष की यह बात सुन रखी हो कि जैसी गाय होती है वैसा गवय अर्थात नील गाय होती है। वह अगर इस सादृश्य ज्ञान का बोध करने के बाद जंगल जाए, और वहां नील गाय मिलने पर वह वनवासी के उस कथन को याद करके उसे पहचान ले, तो इस तरह उसका प्राप्त ज्ञान सादृश्य ज्ञान के द्वारा हुआ है, और सादृश्य ज्ञान के द्वारा द्वारा प्राप्त ज्ञान ही उपमिति कहलाता है। शब्द प्रमाण चौथा प्रमाण है। तर्कभाषा में शब्द प्रमाण का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

आप्त वाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यता सन्निधिमतां पदानां समूहः। अतएव 'गौरश्वः' पुरुषे हस्ती इति पदानि न वाक्यम्। परस्परांविरहात्। 'वह्निना सिंचेदिति' न वाक्यं योग्यता वरिहात्। न ह्यग्निसंकयोः परस्परान्वययोग्यतास्ति। तथाहि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः। तेन कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धे अग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिंचेदिति न वाक्यम्।

एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न वाक्यम्। सतयामपि परस्पराकांक्षायां सतयामपि परस्परान्वययोग्यतायं परस्परसान्निध्याभावात्। यानि तु साकांक्षाणि योग्यावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव काक्यम्। यथा- ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् इत्यादि। यथा च नदीतीरे पंच फलानि सन्ति। आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। यथाभूत अर्थ का उपदेश करने वाला पुरुष आप्त पुरुष कहलाता है, और उसका वाक्य शब्द प्रमाण माना गया है। यहां प्रश्न उठता है

कि वाक्य क्या है। तर्कभाषाकार ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि आकांक्षा, योग्यता और पदसन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, इसलिए परस्पर आकांक्षा विरहित होने से गाय, घोड़ा, मनुष्य हाथी आदि पद वाक्य नहीं कहे जाते हैं। दूसरी ओर किसी पदसमूह में अगर योग्यता का अभाव है तो वह वाक्य नहीं होगा, उदाहरण के लिए 'अग्नि से सींचता है'

पदसमूह वाक्य नहीं है, क्योंकि अग्नि में सींचने की क्षमता अथवा योग्यता का अभाव रहता है। इसी प्रकार यदि आप एक-एक प्रहर के बाद अर्थात् बहुत रुक-रुक कर, अलग-अलग उच्चरित करें और कहें 'गाय को ले आओ', तब भी यह पदसमूह (गाय को ले आओ) वाक्य नहीं कहलाएगा, क्योंकि परस्पर अन्वय और योग्यता होने के बाद भी इस वाक्य में पदसन्निधि का अभाव है।

अब तक आपने यह अच्छी तरह समझ लिया होगा कि आकांक्षा युक्त, योग्यता युक्त और सन्निधियुक्त पद ही वाक्य कहलाते हैं- जैसे स्वर्ग की इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करे इत्यादि वैदिक वाक्य। और जैसे नदी तीर पर पांच फल हैं, यह लौकिक वाक्य, और जैसे अविलम्ब से उच्चरित वही 'गाय को ले आओ' इत्यादि पद वाक्य हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चारों प्रमाणों के वर्णनोपरान्त तर्कभाषाकार कहते हैं-

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम्, प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भव।

अर्थात चारों प्रमाणों का वर्णन हो गया। इनके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं हैं। अन्य प्रमाण इन्हों चारों प्रमाणों में अन्तर्भूत हैं।

बोध प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. तर्कभाषा के आधार पर प्रमेयों की संख्या बताइए
2. उपमिति का क्या आधार होता है
3. शब्द प्रमाण के लिए क्या आवश्यक होता है
4. 'वन्हिना सिन्चेत' में किसका अभाव है

इसी अध्ययन इकाई में प्रमेय, प्रमाण के निरूपण के बाद आप न्यायसम्मत कारण के स्वरूप का अध्ययन भी करेंगे। कारण और कार्य में आनन्तर्य सम्बन्ध होता है। दैनिक जीवन में भी आप अनुभव करते हैं कि बिना कारण के कोई कार्य घटित नहीं होता। दार्शनिक सम्प्रदाय कारणवाद की विशद व्याख्या करते हैं। उनका मत है कि सृष्टि भी अकारण उत्पन्न नहीं हुई है। कारणवाद का सिद्धान्त भी प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदायों में अलग-अलग है। जहां सांख्य सत्कार्यवाद की विवेचना करता है वहीं

नैयायिक असत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। वेदान्ती विवर्तवाद को मानते हैं और बौद्ध क्षणिकवाद को स्वीकार करते हैं। इस इकाई के अन्तर्गत आप नैयायिकों के कारणवाद का अध्ययन करेंगे जो असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद के नाम से जाना जाता है।

2.6 कारण और उनके स्वरूप की व्याख्या:-

न्याय कारण की गति प्रक्रिया के पूर्व कार्य की स्थिति को स्वीकार नहीं करता है परन्तु इस दर्शन की यह मान्यता अवश्य है कि कारण के गुणों द्वारा कार्य के गुणों का आविर्भाव होता है। कारण की परिभाषा बताते हुए तर्कभाषाकार केशव मिश्र कहते हैं— **यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्-यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्।** अर्थात् कार्य से पहले जिसकी सत्ता निश्चित हो, उसको कारण कहते हैं। लेकिन जैसे तन्तु और करघा आदि पट के कारण हैं। यह वर्णन अतिव्याप्त है, क्योंकि यह अनेक ऐसी बातों पर लागू होता है जिन्हें कारण नहीं माना जा सकता। इसलिए इस विवेचन में 'नियतोऽनन्यथा सिद्धश्च' पद का विशेष महत्व है। कारण का विवेचन करते हुए यदि नियत शब्द नहीं रखा जाए, केवल पूर्वभाव ही रखा जाए, तो कुम्हार के द्वारा घड़ा बनाते समय जितनी वस्तुएं उपस्थित होंगी, वे सभी घट का कारण कहलाने लगेंगी, उदाहरण के लिए घड़ा बनाने के समय अगर कोई पुरुष दर्शक अथवा गधा इत्यादि कोई जानवर वहां उपस्थित हो जाए, तो घटोत्पत्ति के पूर्व-कारण का लक्षण उनमें भी सन्निहित हो जाएगा। इसीलिए तर्कभाषा के विवेचन का 'नियत' पद महत्वपूर्ण है। तन्तु व करघा इत्यादि का पूर्वभाव नियत है, अर्थात् जब पट की उत्पत्ति होगी, उसके पहले तन्तु व करघा इत्यादि की उपस्थिति आवश्यक होगी। इसलिए कपड़े के निर्माण में तन्तु करघा इत्यादि 'नियतपूर्वभावी' होने के कारण पट के कारण कहलाते हैं। इसकी व्याख्या तर्कभाषा में इस प्रकार की गई है—

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नासौ नियतः। तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसंगात्। तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियत-पश्चादभावित्वं कार्यत्वम्।

इसलिए तर्कभाषाकार के अनुसार 'अनन्यथासिद्ध नियत पूर्वभावित्व' यह कारण का लक्षण है और अनन्यथासिद्ध नियत पश्चादभावित्व कार्यत्व का लक्षण है।

आपके मन में यह स्वाभाविक प्रश्न उठेगा कि यह अन्यथासिद्ध क्या है। कारण के विवेचन में यह पद विशेष महत्व का है और इसको जाने बिना आप न्याय दर्शन के कारणवाद को ठीक से नहीं समझ पाएंगे। कारण की उपर्युक्त परिभाषा को यथार्थ बनाने के लिए कुछ अपवाद बताए गए हैं, जिन्हें

'अन्यथासिद्ध' कहा गया है। इन्हें छोड़ने के बाद जो भी किसी कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो, वह उसका कारण है। न्याय वैशेषिक के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय मुक्तावली के आधार पर तर्कभाषाकार ने पांच प्रकार के अन्यथासिद्ध गिनाए हैं, हालांकि उनका अन्तर अस्पष्ट और अनिश्चित लगता है।

प्रथम अन्यथासिद्ध है 'येन सह पूर्वभावो' जिस धर्म के सहित कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होता है वह धर्म कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे दण्ड घट का कारण है। दण्डत्व धर्म विशिष्ट दण्ड ही घट का कारण है इसलिए दण्डत्व का कारण के रूप में अलग से कथन प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

'कारणमादाय वा यस्य 'यह द्वितीय प्रकार के अन्यथासिद्ध का लक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसका कार्य के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वय-व्यतिरेक न हो, अपितु अपने कारण के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक हो, वह द्वितीय प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे घट के प्रति दण्डरूप का स्वतः अन्वय-व्यतिरेक नहीं है अपितु कारण के दण्ड के द्वारा अन्वय व्यतिरेक है। इसलिए दण्डरूप घट के प्रति दूसरे प्रकार का अन्यथा सिद्ध हुआ।

तीसरे अन्यथासिद्ध का लक्षण मुक्तावलीकार ने इस प्रकार दिया है—

'अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्'- इसका अर्थ यह है कि किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर जिसका कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत हो सके वह तृतीय अन्यथासिद्ध होता है। जैसे घट के निर्माण के पूर्व आकाश उपस्थित रहता है, लेकिन आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। आकाश प्रत्यक्ष नहीं है। उसकी सिद्धि शब्द के समवायि कारण के रूप में अनुमान द्वारा होती है।

चौथा अन्यथासिद्ध है- जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृहयते- अर्थात् कारण का कारण चौथे प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे कुम्हार घट का कारण है लेकिन कुम्हार का पिता घट का कारण नहीं है, इसलिए वह अन्यथासिद्ध है।

'अतिरिक्तमथापि यदभवेनियतावश्यक पूर्वभाविनः' यह पांचवा अन्यथासिद्ध है। अभिप्राय यह है कि नियतावश्यक पूर्वभावी अर्थात नियत पूर्ववर्ती से अतिरिक्त जो कुछ है वह सब पंचम प्रकार का अन्यथासिद्ध है। जैसे पटोत्पत्ति के पूर्व 'दैवादागत रासभ' अर्थात अचानक उपस्थित होने वाला गधा इत्यादि।

पांचों अन्यथासिद्ध में पंचम प्रकार का अन्यथासिद्ध सबसे महत्वपूर्ण कहलाता है। इसके विशेष महत्व के कारण ही तर्कभाषाकार ने नियत पद से सूचित किया। यदि ऐसा नहीं होता तो अनन्यथासिद्ध पद से ही कारण का लक्षण पूरा हो जाता, नियत पद रखने की आवश्यकता नहीं पडती। अन्यथासिद्धों के पांच प्रकारों के बीच के भेदों में अस्पष्टता दिखाई देती है और इस लिए उन्हें सामान्यतया 'औपाधिक बातों' के शीर्षक के तहत समझ लिया जाता है। अन्यथासिद्धों की इस योजना के सामान्य स्वरूप को समझने के लिए एक या दो उदाहरणों को ध्यान में रखना उपयोगी होगा। पहला यह है कि कारण के

गुण कार्य के गुण नहीं हैं, उदाहरण के लिए डंडा घड़ा का कारण है, लेकिन डंडे का रंग घड़े का कारण नहीं है। दूसरा, यह कि कारण का कारण भी कारण नहीं माना जा सकता, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि कुम्हार घड़े का कारण है, लेकिन कुम्हार का पिता घड़े का कारण नहीं है।

कारण का विवेचन जानने तथा विवेचन में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के उपरान्त कारण के भेद पर भी विचार करना उचित होगा। तर्कभाषा में तीन प्रकार के कारण बतलाए गए हैं- **तच्च कारणं त्रिविधम्। समवायि-असमवायि-निमित्त-भेदात्। तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटसय समवायि कारणम्। यत्स्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते न तुर्यादिषु।**

वह कारण तीन प्रकार का होता हैं समवायि कारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण। समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले कार्य के कारण को समवायि कारण कहा जाता है, जैसे पट तन्तु का समवायि कारण हैं, क्योंकि तागे में ही समवाय सम्बन्ध से पट पैदा होता है, करघे आदि में नहीं। इस पर प्रश्न यह पैदा होता है कि तागे के साथ सम्बन्ध के समान करघे आदि के साथ भी पट का सम्बन्ध है, तब फिर क्यों तागों में ही समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है, और तुरी आदि में नहीं होता। आप देखेंगे कि नैयायिक इसका उत्तर बहुत ही तर्कसम्मत ढंग से देते हैं। नैयायिकों का कहना है, कि ठीक है पट का तुरी और तागे दोनों के साथ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु सम्बन्ध दो प्रकार का होता हैं एक संयोग और दूसरा समवाय। उन्होंने आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही समवाय सम्बन्ध होता है, और अन्यों के बीच का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध होता है, समवाय नहीं। अब ये अयुतसिद्ध क्या कहलाते हैं यह प्रश्न किया गया है। इसका उत्तर यह है कि जिन दो में एक 'अविनश्यदवस्थ' अर्थात् दूसरे के आश्रित ही रहता है, वे दोनों ही परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं। अर्थात् जिनको एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता, वे दोनों परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं, जैसे मेज से उसका स्वरूप अलग नहीं किया जा सकता। इस उदाहरण में मेज गुणी है और रूप उसका गुण। इसलिए गुण और गुणी परस्पर अयुतसिद्ध हैं और इनका सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है।

अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया-क्रियावान, जाति-व्यक्ति और नित्य द्रव्य तथा विशेष ये पांच अयुतसिद्ध हैं और इनका सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है। तर्कभाषाकार द्वारा अयुतसिद्ध के लक्षण में प्रयुक्त 'अविनश्यदवस्था' की व्याख्या भी आवश्यक है। उन्होंने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-

यथा अवयवावयवियनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति। अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवा-वतिष्ठनतेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठनतेऽवयव व्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः। यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः। विनश्यत्ता तु विनाशकारण सामग्रीसान्निध्यम्।

जैसे- अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया क्रियावान, जाति और व्यक्ति तथा नित्यद्रव्यं और विशेष। अवयवी आदि यथाक्रम अविनश्यदवस्था में अवयवादि के आश्रित ही रहते हैं। विनष्यदवस्था में अवयवी आदि निराश्रित हो जाते हैं। विनश्यता तो विनाशकरणों का एकत्रीकरण है।

अब दूसरा कारण असमवायिकारण है, जिसकी व्याख्या तर्कभाषाकार ने इस प्रकार की है-

असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृत सामर्थयं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। तन्तुसंयोगस्य गुणस्य पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु, समवेतत्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात् अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभवित्वेनं पटं प्रति कारणत्वाच्च।

असमवायि कारण उसको कहते हैं जो समवायि कारण में रहता हो, और जिसमें निश्चित रूप से कार्योत्पादन की क्षमता भी विद्यमान हो, अर्थात् जिसमें 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' यानी कि अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती हो। 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' की विशद व्याख्या इस इकाई में आप पहले ही पढ़ चुके हैं। जैसे पट के मामले में तागे समवायि कारण हैं, लेकिन तागों का संयोग गुण है, इसलिए वह पट का समवायि कारण नहीं है, बल्कि उसका असमवायि कारण है। और यह पट के समवायि कारण यानी कि तागों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होने से समवायि कारण में प्रत्यासन्न कहलाएगा और अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व के लक्षण से युक्त होने से असमवायिकारण कहलाता है। संक्षेप में तन्तुसंयोग के बिना पट की उत्पत्ति असम्भव है और समवायिकारण तन्तु में प्रत्यासन्न भी है, इसलिए तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण हुआ।

तीसरा कारण क्या है? अब हम इस पर विचार करते हैं। तर्कभाषा के अनुसार निमित्त कारण उसको कहते हैं जो न समवायि कारण है और न असमवायि कारण है। फिर भी जो कारण है अर्थात जिसमें 'अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्वम्' कारण का यह लक्षण घटता है। जेसे वेमादि पट के निमित्त कारण हैं । यह तीन प्रकार के समवायि, असमवायि और निमित्त कारण भाव पदार्थों के ही होते हैं। अभाव का तो केवल एक निमित्त कारण ही होता है। उस अभाव का कहीं भी किसी भी पदार्थ के साथ समवाय सम्बन्ध न होने से कोई पदार्थ उसका समवायि कारण नहीं हो सकता, और जब समवायि कारण ही नहीं तब असमवायिकारण भी नहीं हो सकता, इसलिए अभाव का केवल निमित्त कारण ही होता है। त्रिविध कारण केवल भाव पदार्थों के होते हैं अभाव के नहीं। तर्कभाषाकार ने कहा है- **निमित्तकारणम् तदुच्चयते। यन्न समवायिकारणं नाप्यसमवायिकारणम्। अथ च कारणं तन्निमित्तकारणम्। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्, तदेतद् भावनामेव त्रिविध कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं तस्य कचिदप्यसमवायात्। समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात्।**

कारणों के बारे में तर्कभाषा के पाठ पर आधारित इस चर्चा के बाद हमारे लिए सरल शब्दों में एक और बात को समझ लेना उपयोगी होगा। सभी दर्शनों में भावात्मक कार्यों के लिए दो प्रकार के कारणों को माना गया है, एक कारण को उपादान कारण कहा जाता है तो दूसरे कारण को निमित्त कारण के नाम

से जाना जाता है। न्याय दर्शन में निमित्त कारण तो लगभग वैसे ही माना जाता है जैसा बाकी दर्शनों में। लेकिन उपादान कारण के मामले में न्याय की स्थिति अन्य दर्शनों से भिन्न है। न्याय दर्शन द्रव्य और उसके गुणों में भेद करता है, और इसी भेद के अनुरूप वह समवायि कारण और असमवायि कारण के भेद को भी स्थापित करता है। संक्षेप में समवायि कारण हमेशा कोई द्रव्य होता है और असमवायि कारण कोई गुण या कर्म होता है। इसीलिए नैयायिक दो के स्थान पर तीन तरह के कारणों की योजना प्रस्तुत करते हैं।

2.7 सारांश:-

इस इकाई के अन्तर्गत आपने प्रमेयों के नाम, प्रमाण और कारण के स्वरूप का अध्ययन तर्कभाषा के अनुसार किया और आपने देखा कि बारह प्रमेय गिनाए गए हैं- आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। प्रमाण चार हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमिति और शब्द प्रमाण। इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्पर्क से जिस यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रमाण का दूसरा मुख्य साधन अनुमान है। किसी वस्तु के लिंग (विशिष्ट) चिन्ह के आधार पर प्राप्त ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जैसे धुएं (लिंग) को देखकर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना।

न्याय दर्शन के अनुसार तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नहीं है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहचानना ही उपमान है। अर्थात अज्ञान को ज्ञान के उदाहरण से जानना ही उपमान है। प्रमाणों की चर्चा में आपने चौथे प्रमाण के रूप शब्द प्रमाण का अध्ययन किया। संक्षेप में 'शब्द प्रमाण' अथवा साक्ष्य वह ज्ञान है जो हम विश्वसनीय, सत्यवक्ता, श्रद्धेय एवं सम्माननीय व्यक्तियों केकथन द्वारा प्राप्त करते हैं। प्रमेयों के नाम और प्रमाणों की चर्चा के उपरान्त हमने कारण के स्वरूप पर भी विचार किया है। नैयायिकों के अनुसार कारण का लक्षण है- 'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथा सिद्धश्च तत्कारण' अर्थात् कार्य से पहले जिसकी सत्ता निश्चित हो और जो अन्यथासिद्ध न हो, उसे कारण कहते हैं। 'नियत पूर्वभावित्वम' और 'अन्यथासिद्ध' जैसे पदों की व्याख्या भी इसी इकाई में आपने विस्तार से पढ़ी। कारण का लक्षण बताने के बाद नैयायिकों ने तीन प्रकार के कारण बतलाए हैं- समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण।

2.8 पारिभाषिक शब्दावली:-

1. प्रमेय- ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं।
2. प्रमाण- साधन अर्थात जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है।
3. प्रमा-यथार्थ अनुभव का नाम

4. निर्विकल्पक - नाम रूप इत्यादि के बिना जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।

5. सविकल्पक- नाम रूप इत्यादि के साथ जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।

6. लिंग- विशिष्ट चिन्ह जिसके द्वारा अनुमान की सिद्धि होती है।

7. व्यप्ति- साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। उदाहरण स्वरूप जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है यह साहचर्य नियम है अर्थात् बिना आग के धुआं नहीं हो सकता। यही साहचर्य नियम नैयायिकों के अनुसार व्याप्ति कहलाता है।

8. आकांक्षा- सार्थक सम्बन्ध- अर्थ प्रतिपादन द्वारा अन्य पदों के बारे में आकांक्षा उत्पन्न होती है।

9. योग्यता- योग्यता से तात्पर्य पद समूह में कार्य की योग्यता से है। जैसे अग्नि में सींचने की योग्यता नहीं है।

10. सन्निधि- पदों का शीघ्रता से उच्चारण सन्निधि कहलाता है

11. समवाय- अलग न किए जा सकने वाले सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। जैसे मिट्टी और घड़ा।

12. अन्यथासिद्धि- अन्य प्रकार से सिद्ध किया जाने वाला कार्य अन्यथा सिद्ध कहलाता है।

बोध प्रश्न 2.

1. अपवर्ग किसके अन्तर्गत आता है?
2. परामर्श शब्द का प्रयोग किस प्रमाण में किया गया है?
3. प्रमाणों की संख्या कितनी है?
4. निर्विकल्पक क्या है?
5. पट का समवायि कारण कौन सा है।
6. घड़े का निमित्त कारण बताइए।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर:-

बोध प्रश्न 1.

1. बारह
2. सादृश्य ज्ञान
3. आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि
4. योग्यता का

बोध प्रश्न 2.

5. प्रमेय के अन्तर्गत

6. अनुमान प्रमाण में

7. चार

8. प्रत्यक्ष

9. तन्तु

10. कुम्हार

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. केशव मिश्रः तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990
2. डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
3. हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987
4. गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992
5. दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988
6. शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991
7. राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस
8. शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986
9. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1. प्रमाण चतुष्टय का संक्षेप में वर्णन कीजिए

2. असमवायिकारण क्या है? लक्षण और उदाहरण के साथ समझाइए।

3. अन्यथा सिद्ध का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

इकाई- 3 प्रत्यक्ष प्रमाण एवं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 प्रमाण परिभाषा एवं व्याख्या
3.4 प्रत्यख प्रमाण
3.4.1 निर्विकल्पक प्रत्यक्ष
3.4.2 सविकल्पक प्रत्यक्ष
3.5 षोड़ा सन्निकर्ष
3.5.1 संयोग सन्निकर्ष
3.5.2 संयुक्त समवाय सन्निकर्ष
3.5.3 संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष
3.5.4 समवाय सन्निकर्ष
3.5.5 समवेत समवाय सन्निकर्ष
3.5.6 विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष
3.6 अलौकिक प्रत्यक्ष
3.7 सारांश
3.8 पारिभाषिक शब्दावली
3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.11निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना:-

पूर्व की अध्ययन इकाइयों में आप न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास, प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय की तत्त्व मीमांसा पढ़ चुके हैं। इसके अतिरिक्त नव्य न्याय के प्रमुख ग्रन्थ व अपनी आधार-पाठ्य पुस्तक तर्कभाषा के आधार पर आप न्याय दर्शन के दूसरे पदार्थ अर्थात प्रमेयों के नाम जानने के अतिरिक्त न्याय दर्शन के प्रथम पदार्थ अर्थात प्रमाण, व न्याय दर्शन के कारण व उसके स्वरूप पर विस्तृत चर्चा कर चुके हैं। आप नव्य न्याय के सर्वाधिक प्रमुख सिद्धान्त अर्थात प्रमाणों के स्वरूप तथा कारण के स्वरूप पर विचार मंथन कर चुके हैं। आपने अपने इस अध्ययन को तर्कभाषा में वर्णित मूल पाठ व उनकी व्याख्या के आधार पर संचालित किया है, जिससे इन सिद्धान्तों को प्रामाणिक तौर पर समझने में आपको सहायता हुई होगी। प्रमाणों का संक्षिप्त अध्ययन करते समय आपने न्याय सम्मत चार प्रमाणों के बारे में जो जानकारी प्राप्त की थी, उसके अनुसार न्याय दर्शन में वर्णित प्रमाणों के चार भेद इस प्रकार थे- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। वर्तमान इकाई में आप प्रत्यक्ष प्रमाण के बारे में विस्तृत अध्ययन करेंगे।

पूर्व इकाइयों के अपने अध्ययन के आधार पर आप को स्मरण होगा कि न्याय दर्शन की दो शाखाएं हैं, एक को प्राचीन न्याय कहते हैं और दूसरे को नव्य न्याय। प्राचीन न्याय जहां पदार्थ मीमांसा पर जोर देता है, वहीं नव्य न्याय का केन्द्रीकरण प्रमाण मीमांसा पर है। गौतम प्रणीत न्याय सूत्र प्राचीन न्याय का ग्रन्थ है, तो गंगेश उपाध्याय कृत तत्त्व चिन्तामणि नव्य न्याय का आधार गन्थ माना जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पदार्थ मीमांसा के प्रणेता महर्षि गौतम हैं और प्रमाण मीमांसा के प्रणेता गंगेश उपाध्याय हैं। तर्क भाषा नव्य न्याय का ग्रन्थ है, और अभी तक के विवेचनों से आप यह भली-भांति समझ गए होंगे कि नव्य न्याय का ग्रन्थ होने के कारण प्रमाण विचार ही उसका मुख्य उद्देश्य है। अपनी तीसरी अध्ययन इकाई में आपके द्वारा पढ़े गए चार प्रमाणों में पहले प्रमाण अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण का आप वर्तमान इकाई के अन्तर्गत विस्तृत अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य:-

इस इकाई के अन्तर्गत आप न्याय दर्शन में वर्णित प्रत्यक्ष प्रमाण के विस्तृत अध्ययन के पश्चात—

- प्रमाण का अर्थ बता सकेंगे।
- प्रमाण के पहले भेद प्रत्यक्ष प्रमाण की तर्कभाषा आधारित परिभाषा के आधार पर उसकी स्पष्ट व्याख्या कर सकेंगे
- इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष क्या होता है, इसकी जानकारी आपको हो सकेगी।
- 4.इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के कितने भेद होते हैं और वे कौन-कौन से हैं, इसका निर्धारण भी आप करेंगे।

3.3 प्रमाण परिभाषा एवं व्याख्या:-

नैयायिक सर्वप्रथम प्रमाण विचार प्रस्तुत करते हैं। नैयायिकों के अनुसार यथार्थ ज्ञान का बोध कराने वाला प्रमाण कहलाता है। जैसा कि आप अपने पूर्व अध्ययन से जान चुके हैं कि न्याय दर्शन अपनी चर्चा को बेहद तार्किक और वैज्ञानिक ढंग से आगे बढ़ाता है, इसीलिए उसे हेतु विद्या या आन्वीक्षिकी भी कहा जाता है। अपनी इस प्रसिद्धि के अनुरूप न्याय दर्शन ने प्रमाण विश्लेषण को भी अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी तार्किक युक्तियों का विधान और सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करने की विधि अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतीत होती है। ज्ञान न्याय का सर्वोच्च विषय है। नैयायिक मिथ्या ज्ञान को ही निःश्रेयस अर्थात जीवनमुक्ति के मार्ग का सबसे बड़ा अवरोध मानते हैं। उनके विधान के अनुसार प्रमाण के द्वारा ही यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है।

प्रत्यक्ष प्रमाण:-

तर्कभाषा को आधार बनाते हुए अब हम सबसे पहले प्रमाण के पहले भेद अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा तर्कभाषाकार केशव मिश्र इस प्रकार करते हैं— **साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रिजा। साच्च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्।**

अर्थात् प्रमा का जो साधन है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात्कारिणी प्रमा अथवा ज्ञान इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, और इन्द्रिय के सम्पर्क से उत्पन्न यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है- पहला सविकल्पक दूसरा निर्विकल्पक। जिसमें निर्विशेष वस्तुमात्र का ग्रहण होता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है, अर्थात जहां हमें वस्तु के स्वरूप की प्रतीति मात्र होती है, उसके नाम जाति इत्यादि के विस्तार का हमें ज्ञान नहीं होता, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाती है। इसके विपरीत नाम जाति इत्यादि के विस्तार से युक्त ज्ञान को न्याय दर्शन में सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा गया है।

सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष:-

दैनिक व्यवहार में आने वाली प्रायः सभी वस्तुएं सविकल्पक प्रत्यक्ष के ही उदाहरण हैं। सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान के अन्तर को सरल शब्दों में आप के उदाहरण के जरिए आसानी से समझ सकते हैं। मान लीजिए कहीं पर एक घड़ी है, जिसको एक बालक देखता है, और उसके साथ एक प्रौढ़ पुरुष भी उस घड़ी का साक्षात करता है। घड़ी का साक्षात करते समय घड़ी के स्वरूप का जो ज्ञान होता है वह बालक और प्रौढ़ पुरुष में एक समान होता है। लेकिन अर्थ के ग्रहण काल में दोनों का ज्ञान समान होने के बावजूद उन दोनों के ज्ञान में एक महत्वपूर्ण अन्तर होता है, प्रौढ़ व्यक्ति घड़ी के

नाम जाति आदि से भी परिचित होता है, परन्तु बालक नाम-जाति की इन बातों से अनभिज्ञ होता है। अतः व्यवहार काल में प्रौढ़ व्यक्ति का ज्ञान सविकल्पक हो जाता है, जबकि बालक उसके नाम जाति आदि से अनभिज्ञ रहने के कारण वैसा व्यवहार नहीं कर सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि अर्थ (विषय) के ग्रहण काल में प्रौढ़ पुरुष और बालक दोनों को निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है, किन्तु प्रौढ़ पुरुष शीघ्रतासे उसके नाम जाति आदि का स्मरण कर लेता है, इसलिए उसका निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है।

अभी तक आपने यह पढ़ा कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित होता है, और न्याय दर्शन में उसके सविकल्पक और निर्विकल्पक नामक दो प्रकार के भेद माने गए हैं। आगे तर्कभाषाकार प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों की चर्चा करते हुए तीन प्रकार के साधनों का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि प्रत्यक्ष ज्ञान के 'करण' तीन होते हैं- **'तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्'।**

अर्थात् पहला इन्द्रिय, दूसरा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और तीसरा निर्विकल्पक ज्ञान। जैसा कि आप अपनी पूर्व इकाइयों में पढ़ चुके हैं, न्याय की पारम्परिक शब्दावली में 'करण' का अर्थ प्रमुख या असाधारण कारण माना जाता है। यही तीन 'करण' प्रत्यक्ष ज्ञान का माध्यम बनते हैं, और तर्कभाषा में पं केशव मिश्र ने इन तीन कारणों को सरल ढंग से व्याख्यायित किया है। इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और तीसरा निर्विकल्पक ज्ञान के उल्लेख के बाद उन्होंने चौथे क्रम में सविकल्पक ज्ञान और पांचवे क्रम में हानोपादानोपेक्षा बुद्धि इन दोनों फलों को भी जोड़ दिया है, और इस प्रकार उन्होंने पांच कड़ियों वाली एक श्रंखला प्रस्तुत की है- ?

इन पांचों में यदि पहले को हम असाधारण कारण अथवा करण मानते हैं, तो दूसरा अवान्तर व्यापार यानी क्रिया और तीसरा उसका फल होगा। ठीक इसी प्रकार यदि दूसरे को हम करण मानते हैं तो तीसरा अवान्तर व्यापार और चौथा फल होगा। तीसरे को यदि करण रूप में स्वीकार करते हैं तो चौथा अवान्तर व्यापार और पांचवा उसका फल होगा। संक्षेप में आप इस योजना के एक उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते सकते हैं- मान लीजिए जब इन्द्रिय करण है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होगा और निर्विकल्पक ज्ञान अर्थात नामाजाति आदि से रहित जो ज्ञान होगा वह उसका फल कहलाएगा। जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को करण माना जाएगा तो निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और सविकल्पक ज्ञान अथवा नाम जाति आदि सहित वस्तु का ज्ञान फल होगा। इसी तरह जब तीसरी संख्या अथवा निर्विकल्पक ज्ञान करण होगा तो सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और

हानोपादानोपेक्षाबुद्धि इसकी फल होगी। इस त्रिविध करणों की सरल व्याख्या के पश्चात न्याय शास्त्रीय भाषा में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

कदा पुनरिन्द्रियं करणम? यदा निर्विकल्पक रूपा प्रमा फलम्। तथा हि आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्व नियमात्। ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहिकिंचिदिदमिति ज्ञानं जन्यते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः। निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं परशोरिव हिदा।

तर्कभाषा के इस मूल पाठ में त्रिविध कारणों में से प्रथम करण 'इन्द्रिय' की व्याख्या की गई है और उसके अवान्तर व्यापार तथा फल को समझाने का प्रयास कतिपय उदाहरणों द्वारा किया गया है, जो इस प्रकार है- इन्द्रिय को करण कब माना जाता है? जब निर्विकल्पक रूप प्रमा यानी यथार्थ ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए आत्मा के साथ मन का संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रिय के साथ, तब इन्द्रिय अर्थ अर्थात विषय के साथ संयुक्त होती है और फिर इन्द्रियों के वस्तु को प्राप्त करके ही अर्थ को प्रकाशित करने का नियम होने से। तब अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय के द्वारा नाम जाति आदि से रहित वस्तु के स्वरूप मात्र का ज्ञान कराने वाला निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। और ऐसी स्थिति में नामाजात्यादि योजना से रहित निर्विकल्पक ज्ञान का करण अर्थात् असाधारण कारण इन्द्रिय होती है। तर्कभाषा में लकड़ी को फरसे से काटे जाने का उदाहरण देते हुए इस बात को इस प्रकार समझाया गया है- जैसे छेदन क्रिया का करण फरसा होता है, और इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होता है। इस तरह फरसा का लकड़ी के साथ संयोग अवान्तर व्यापार होता है और निर्विकल्पक ज्ञान अर्थात फरसे रूप करण का फरसा और लकड़ी के संयोग रूप अवान्तर व्यापार द्वारा फल लकड़ी का कटना होता है।

अभी तक की व्याख्या से और उदाहरणों से आपने यह समझ लिया होगा कि इन्द्रिय रूप करण से निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होता है। अवान्तर व्यापार भी नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली है। तर्कभाषा में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है— **तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापरः।**

अर्थात् जो स्वयं उस करण से जन्य हो, और उस करण से उत्पन्न होने वाले फल का जनक हो, उसे 'अवान्तर व्यापार' कहते हैं। जैसे कुल्हाड़ी से लकड़ी काटने की क्रिया में कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग अवान्तर व्यापार है क्योंकि वह कुल्हाड़ी जन्य है और साथ छेदन रूप फल का जनक भी है। अब इन्द्रियों की करण के रूप में व्याख्या करने के बाद दूसरे करण अर्थात् इन्द्रियार्थ

सन्निकर्ष को समझने की कोशिश करेंगे। 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' कब करण होता है, यह जानना भी आप के लिए आवश्यक है। इसको समझने के लिए भी सबसे पहले हमें मूल पाठ पर ध्यान देना होगा। वह इस प्रकार है—

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम? यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम। निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, सविकल्पकं ज्ञानम् फलम्।

अर्थात् इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष कब करण होता है? जब निर्विकल्पक ज्ञान के बाद सविकल्पक ज्ञान अर्थात नामजात्यादि सहित नाम युक्त प्रतीति (यह डित्थ (प्राणी) है) जाति युक्त प्रतीति (यह ब्राह्मण है) रूप गुण विशिष्ट प्रतीति अर्थात (यह श्याम वर्ण का है) उत्पन्न होता है। इस प्रकार के विशेषणविशेष्य भाव विषयक ज्ञान में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष करण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है और सविकल्पक ज्ञान फल होता है। अब तीसरा निर्विकल्पक ज्ञान कब करण होता है, इसका उत्तर तर्कभाषा में इस प्रकार दिया गया है—

कदा पुनर्ज्ञानं करणम्? यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्। सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः हानादि बुद्धयः फलम्।

और निर्विकल्पक ज्ञान कब करण होता है? जब सविकल्पक ज्ञान के बाद जानी गई वस्तु को त्यागने अथवा उसकी उपेक्षा करने की ('हानोपादानोपेक्षा') बुद्धि उत्पन्न होती है, तब निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है, जबकि सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है और त्याग, ग्रहण अथवा उपेक्षा करने की बुद्धि अर्थात् हानोपादानोपेक्षा बुद्धि फल कहलाती है।

षोड़ा सन्निकर्षः-

त्रिविध करणों के प्रतिपादन स्वरूप आपने यह समझ लिया होगा कि निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार है, और निर्विकल्पक ज्ञान फल है। सविकल्पकज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष करण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और सविकल्पक ज्ञान फल होता है। हानोपादानोपेक्षाबुद्धि फल के समय निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है, सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और हानोपादानोपेक्षा बुद्धि फल होती है। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप एक अवान्तर व्यापार है। सविकल्पक की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और निर्विकल्पक ज्ञान ये दो अवान्तर व्यापार हैं और हानोपादानोपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान ये तीनों अवान्तर व्यापार हैं। इन्द्रिय और अर्थ का

जो सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है, न्याय दर्शन में उसे छह प्रकार का माना गया है, और वह षोढ़ा सन्निकर्ष के नाम से जाना जाता है—

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षडविध एव। तद्यथा संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावश्चेति।

तर्कभाषा से उद्धृत इस अंश में षोढा सन्निकर्ष के नाम गिनाए गए हैं और आप देख सकते हैं कि पहला इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयोग, दूसरा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय, तीसरा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय, चौथा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष समवाय, पांचवा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष समवेत समवाय और छठा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष विशेषण विशेष्यभाव के नाम से गिनाया गया है। तर्कभाषा के अनुसार एक-एक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के लक्षण, उदाहरण इत्यादि को प्रस्तुत कर हम इनका सुस्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

संयोग सन्निकर्षः-

प्रथम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का नाम संयोग सन्निकर्ष है। संयोग सन्निकर्ष तब होता है जब नेत्र के द्वारा घट का ज्ञान होता है, और तब चक्षु इन्द्रिय और घट का अर्थ होता है और इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही होता है। केशव मिश्र कृत तर्कभाषा में संयोग सन्निकर्ष की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः। अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव अयुतसिद्धयभावात्। मनसाऽन्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियं, आत्माऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव।

अर्थात् नेत्र के द्वारा घड़े का ज्ञान जब उत्पन्न होता है अथवा मन के द्वारा जब आत्मा का ज्ञान होता है इन दोनों स्थितियों में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष संयोग होता है, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ में परस्पर अयुतसिद्ध सम्बन्ध का अभाव है। आपको ध्यान होगा कि अयुतसिद्ध सम्बन्ध हमेशा समवाय सम्बन्ध होता है और विनाशकाल से पूर्व ये एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। क्योंकि यहां चक्षु (इन्द्रिय) और घट (अर्थ) तथा मन (इन्द्रिय) और आत्मा (अर्थ) ये दोनों उदाहरण अयुतसिद्ध नहीं हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध होगा। इन दोनों उदाहरणों में प्रथम उदाहरण बाह्येद्रिय के सन्निकर्ष का और द्वितीय उदाहरण अन्तरेन्द्रिय के सन्निकर्ष का है।

संयुक्तसमवाय सन्निकर्षः-

दूसरा सन्निकर्ष जैसा कि आप तर्कभाषा के उद्धरण से जान चुके हैं संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के नाम

से जाना जाता है। इसका भी अध्ययन आपको तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर करना है। तर्कभाषा में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष को स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है—

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्यामरूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं घटरूपमर्थः अनयोः सन्नकर्षः संयुक्त समवाय एव। चक्षुसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखादौ ग्राह्यमाणे अयमेव सन्निकर्षः।

अर्थात् जब चक्षु आदि से घट में स्थित रूपादि का ग्रहण होता है, उदाहरण के लिए घट में श्याम रूप है ऐसा ज्ञान होता है, तो यह ज्ञान संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से होता है। इसमें चक्षु इन्द्रिय है, घड़ा अर्थ है और घड़े में श्याम रूप समवाय सम्बन्ध से स्थित है। इसको सरल ढंग से आप इस तरह समझ सकते हैं कि इन्द्रिय (चक्षु) और घट (अर्थ) का सन्निकर्ष होने के पश्चात ही घड़े में स्थित श्याम रूप का ज्ञान सम्भव होगा। इन्द्रिय (चक्षु) के द्वारा अर्थ का ज्ञान 'संयोग सन्निकर्ष' के द्वारा होता है, इस बात का अध्ययन आप 'संयोग सन्निकर्ष' की व्याख्या पढ़ते समय कर चुके हैं। लेकिन जब घड़े के अन्दर स्थित श्याम रूप का ज्ञान होगा, अर्थात घड़ा श्याम वर्ण का है इस प्रकार का ज्ञान होगा, तो यह ज्ञान संयुक्त समवाय सन्निकर्ष के द्वारा ही होगा। इस उदाहरण में संयोग सन्निकर्ष से घट के ज्ञान की उत्पत्ति होगी, तदोपरान्त घट में समवाय रूप से स्थित श्याम रूप का ज्ञान सम्भव हो पाएगा। अन्तरिन्द्रिय के सम्बन्ध में भी आप संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से मन के द्वारा आत्मा में समवाय समबन्ध से स्थित सुखादि गुणों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। समवाय सम्बन्ध आप समवायि कारण की चर्चा करते समय अपनी पूर्व इकाई में विस्तार से पढ़ चुके हैं। आप जानते हैं कि अयुतसिद्ध सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं, अर्थात् अपने अस्तित्व काल में जिनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता हो वही सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाते हैं। तर्कभाषाकार ने संयुक्त समवाय सन्निकर्ष का वर्णन करते समय 'चतुष्टय सन्निकर्ष' का भी वर्णन किया है। ये चतुष्टय सन्निकर्ष क्या हैं? जिनसे घट से सम्बन्धित परिमाण इत्यादि बातों का बोध होता है उन्हें तर्कभाषाकार ने चतुष्टय सन्निकर्ष बताया है। ध्यान देने की बात यह है कि यह ज्ञान भी संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से ही होता है, किन्तु इसमें इन्द्रियावयव और अर्थावयवी का सन्निकर्ष (इन्द्रिय अवयवी के साथ अर्थ के अवयवों का) और इन्द्रियावयवी और अर्थावयवी का सन्निकर्ष आवश्यक होता है।

संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्षः-

घटगत परिमाणादिग्रहे चतुष्टसन्नकर्षोऽप्यधिकं कारणमिच्यते। सत्यापि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणद्यग्रहणात्। चतुष्टयसन्निकर्षो यथा-इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्। इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्।इन्द्रियावयवैऽर्थावयवानाम्।
अथावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति। यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादि

सामान्यं गृह्यते, तदा चुक्षुरिन्द्रियं रूपत्वादिसामान्यमर्थः अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेत समवाय एव। चक्षु संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

जब चक्षु से घट में समवेत रूपत्व (रूप जाति का) का ज्ञान ग्रहण किया जाता है, तो चक्षु और घट का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेत समवाय सन्निकर्ष कहलाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप का ज्ञान समवाय सम्बन्ध से होता है, यह बात अभी-अभी आप ऊपर पढ़ चुके हैं। और उस रूप में रूपत्व जाति का समवाय सम्बन्ध है, यह भी आप जान चुके हैं। इसलिए रूपत्व जाति के साथ चक्षु परम्परया संयुक्तसमवेत समवाय सम्बन्ध हुआ। इस तरह आपने देखा कि तीसरा सन्निकर्ष संयुक्तसमवेत समवाय सन्निकर्ष है, जिससे घट में स्थित रूप में रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष ज्ञान हासिल होता है। इस सन्निकर्ष में चक्षु और घट के बीच संयोग अथवा संयुक्त सम्बन्ध होता है, और घट में समवाय सम्बन्ध से स्थित रूप और रूप में समवाय सम्बन्ध से स्थित रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है।

आपने प्रारम्भ में ही यह पढ़ा था कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छः प्रकार के होते हैं, जिनमें आपने संयोग सन्निकर्ष, संयुक्त समवाय सन्निकर्ष और संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष की जानकारी तर्कभाषा के अनुसार से अभी तक आप विस्तार से प्राप्त कर चुके हैं। अब आप चौथा सन्निकर्ष अर्थात 'समवाय सन्निकर्ष' क्या होता है, इसका उत्तर क्या होता है, यह जानने की कोशिश करेंगे। तर्कभाषाकार नें कहा है-

समवाय सन्निकर्षः-

यदा श्रोतेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोतमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोतम्। श्रोतस्याकाशात्मकत्वाच्छशब्दरूप चाकाश गुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

अर्थात श्रोतेन्द्रिय से जब शब्द का ज्ञान ग्रहण होता है तब श्रोत इन्द्रिय और शब्द अर्थ होता है, और इन दोनों का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध होता है। क्योंकि न्याय दर्शन के मतानुसार कर्णशष्कुली से घिरा हुआ आकाश श्रोत है अर्थात श्रोतेन्द्रिय आकाश स्वरूप ही है, और वह आकाश से अतिरिक्त नहीं है। आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि शब्द आकाश का ही गुण होता है। दूसरी ओर आप यह भी जानते हैं कि गुणी और गुण में समवाय सम्बन्ध होता है इसलिए आकाश (गुणी) और शब्द (गुण) में समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसलिए जब श्रोतेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है तो वह समवाय सन्निकर्ष से होता है। समवेतसमवाय सन्निकर्ष पांचवा सन्निकर्ष 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' के नाम से जाना जाता है। आपके मन में यह स्वाभाविक जिज्ञासा हो रही

होगी कि यह समवेतसमवाय सन्निकर्ष क्या है? इस जिज्ञासा का समाधान तर्कभाषाकार ने इस प्रकार किया है—

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोतेन्द्रियेण गृह्यते तदा श्रोतमिन्द्रियं, शब्दत्वादि सामान्यमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव। श्रोतसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

अर्थात् जब शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दत्व आदि सामान्य जाति का ज्ञान श्रोतेन्द्रिय से ग्रहण होता है, तब श्रोत इन्द्रिय तथा शब्दत्व सामान्य अर्थ है। शब्दत्व शब्द में समवाय सम्बन्ध से होता है, यह आप पहले से ही समझते हैं, क्योंकि आपने यह पढ़ रखा है कि व्यक्ति और जाति में समवाय सम्बन्ध होता है। शब्दत्व जाति है, इसलिए आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द में समवाय से रहने वाली शब्दत्व जाति का प्रत्यक्ष 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' से होगा। आकाश और शब्द में भी समवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि गुणी और गुण में भी समवाय सम्बन्ध होता है, यह आप चौथे सन्निकर्ष अर्थात् 'समवाय सन्निकर्ष' की चर्चा के दौरान जान चुके हैं।

विशेष्य विशेषणभाव सन्निकर्षः-

अब हम छठे सन्निकर्ष अर्थात 'विशेष्य विशेषणभाव' को जानेंगे। 'विशेष्य विशेषणभाव सन्निकर्ष' कब होता है यह जानने के लिए हम तर्कभाषा में वर्णित प्रसंग को उद्धृत कर उसकी व्याख्या करेंगे। तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने 'विशेष्यविशेषणभाव' को इस तरह समझाने का प्रयास किया है—

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इहभूतले घटो नास्ति' इति तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः। तदा चक्षुःसंयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं, भूतलं विशेष्यम्। ध्दा च मनःसंयुक्त आत्मानि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित इति, तदा मनः संयुक्तास्यात्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोतसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोतसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्'

विशेष्यविशेषणभाव कब होता है? जब चक्षु से संयुक्त भूतल में घट के अभाव का ज्ञान होता है। अर्थात् भूतल में घड़ा नहीं है यह ज्ञान विशेष्यविशेषणभाव से होता है। इसमें चक्षु से संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण है, जबकि भूतल विशेष्य है। इसी प्रकार जब मन से संयुक्त आत्मा में सुखादि का अभाव ग्रहण किया जाता है तब आत्मा में सुखाभाव विशेषण होता है। और जब श्रोत में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गकार में घत्व (ग में घ) आदि जाति का अभाव गृहीत होता है, तब श्रोत समवेत गकार का घत्वाभाव (अर्थात ग में घ का अभाव) समवेत समवाय सम्बन्ध से विशेषण होता है और इनका ग्रहण विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध से होता है।

संक्षेप में विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष को आप इस तरह समझ सकते हैं कि ऊपर वर्णित पांच प्रकार के सन्निकर्षों में किसी एक सम्बन्ध का, अर्थात् संयोग सम्बन्ध, संयुक्त समवाय सम्बन्ध, संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध और समवेत समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध अभाव का ग्रहण इन्द्रिय द्वारा ही किया जाता है। नैयायिकों की भाषा में प्रत्यक्ष ज्ञान क्या होता है वह कितने प्रकार का होता है ? इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष क्या है और उसके कितने भेद होते हैं? अब तक इन बातों की चर्चा वर्तमान इकाई में हम कर चुके हैं। आइए अब इस चर्चा को और आगे बढ़ाते हैं।

सर्वप्रथम जब हम प्रत्यक्ष ज्ञान का अध्ययन कर रहे थे तो आपने जरूर देखा होगा कि प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार के भेदों, अर्थात निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदों, से युक्त बताया गया है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह होता है जो नाम जात्यादि योजना से रहित होता है। निर्विकल्पक और सविकल्पक अवस्थाएं घुली-मिली रहती हैं। ये वस्तुतः अविभाज्य हैं और इनका विभाग केवल बुद्धि कृत है। मान लीजिए कि हमें सड़क पर एक मटमैली वस्तु दिखाई देती है, पास जाने पर उसका ज्ञान एक मैली सी रस्सी के रूप में होता है। इस ज्ञान में पूर्व ज्ञान अर्थात् पहला ज्ञान जो उत्पन्न हुआ वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हुआ और उत्तर ज्ञान अर्थात् बाद वाला ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष हुआ। स्पष्ट है कि यथार्थ में इस ज्ञान का बोध वस्तुतः अविभाज्य रूप में होता है। निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की जब हम चर्चा करते हैं तो हमें यह भी अवश्य जान लेना चाहिए कि प्रत्यक्ष को हम पुनः दो भागों में बांट सकते हैं- लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष, इन्हें हम एक और नामकरण अर्थात साधारण प्रत्यक्ष और असाधारण प्रत्यक्ष से भी जानते हैं। इनमें लौकिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद पाए जाते हैं, जिन्हें हम बाह्य और मानस नाम से जानते हैं। बाह्य प्रत्यक्ष में चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत जैसी ज्ञानेन्द्रियां बाह्य पदार्थों के सन्निकर्ष में आती हैं, तथा रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष करती हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि बाह्य प्रत्यक्ष में भी मन एवं इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है और आत्मा तथा मन का संयोग भी बना रहता है। मानस प्रत्यक्ष में मन या अन्तरिन्द्रिय का मनोभावों से सन्निकर्ष होता है एवं आत्मा तथा मन का संयोग बने रहने पर ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा यत्नादि का प्रत्यक्ष होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत बाह्य एवं मानस प्रत्यक्ष के अन्तर को आपने समझ लिया है। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है- सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज। तर्कभाषाकार ने केवल छह (षोड़ा) लौकिक सन्निकर्षो का ही प्रतिपादन किया है। क्लिष्टता के कारण उन्होंने तीनों अलौकिक सन्निकर्षों का प्रतिपादन नहीं किया है।

बोध प्रश्न-1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए—

1. इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष कितने प्रकार का होता है?
2. जाति के ज्ञान में कौन सा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है?
3. सविकल्पक प्रत्यक्ष क्या है?
4. सामान्य धर्म क्या है?

अलौकिक प्रत्यक्ष:-

प्रत्यक्ष ज्ञान की स्पष्ट जानकारी के लिए की दृष्टि से इन तीनों अलौकिक प्रत्यक्ष की संक्षिप्त जानकारी आपको पाठ्य वस्तु को समझने में सहायता करेंगे। 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति', 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' और 'योगज' सन्निकर्ष ये तीन भेद अलौकिक प्रत्यक्ष के हैं। जब हम एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो उस प्रकार की समस्त वस्तुओं को अपने आप समझ लेते हैं। हर एक वस्तु के ज्ञान के लिए अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। उनमें रहने वाले सामान्य धर्म का ज्ञान यदि हमें हो जाता है तो उस सामान्य धर्म के ज्ञान के द्वारा ही समस्त सजातीय वस्तुओं का सामान्य ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि आप ससोईघर में धुआं और आग को दूखते हैं तो वहां धूमत्व सामान्य से समस्त धुएं का और वन्हित्व सामान्य से समस्त वन्हियों का प्रत्यक्ष हो जाता है। तभी धूम्र सामान्य और वन्हि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण होता है। एक और उदाहरण देखते हैं। मान लीजिए हम विविध गायों या मनुष्यों को देखते हैं, किन्तु गोत्व या मनुष्यत्व को नहीं देखते। गोत्व जाति या मनुष्यत्व जाति सभी गायों या सभी मनुष्यों का सामान्य धर्म है, और यह लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इस गोत्व या मनुष्यत्व जाति का प्रत्यक्ष 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' नामक अलौकिक प्रत्यक्ष से होता है।

दूसरा अलौकिक प्रत्यक्ष 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' है। जब एक ज्ञानेन्द्रिय से किसी वस्तु का लौकिक सन्निकर्ष होता है, और इस तरह वह ज्ञानेन्द्रिय उस वस्तु के स्वाभाविक गुण को ग्रहण करती है, लेकिन साथ ही साथ उसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा उसी वस्तु के किसी अन्य गुण को जिसे ग्रहण करने ग्रहण करने की कल्पना की जाती है, लेकिन उस गुण को ग्रहण करने में वह ज्ञानेन्द्रिय सक्षम नहीं है, तो यही ज्ञान बोध की कल्पना 'लक्षणा प्रत्यासत्ति' कहलाती है। मान लीजिए 'सुरभिचन्दन खण्डम्' यह ज्ञान है। एक दिन बाजार में किसी व्यक्ति ने चन्दन के टुकड़े को सूंघा और परीक्षा करने के बाद यह निश्चय

किया कि यह सुगन्धित टुकड़ा चन्दन का टुकड़ा है। दूसरे दिन किसी ग्राहक ने यह चन्दन का टुकड़ा उस व्यक्ति को दिखलाकर उसके विषय में उसकी सम्मति जाननी चाही, जिस पर उस व्यक्ति ने दूर से ही देखते हुए कहा कि यह टुकड़ा सुगन्धित चन्दन का है। इस घटना में उस व्यक्ति ने चन्दन को आंखों से तो देखा, परन्तु उसकी सुगन्ध को अपनी घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया, लेकिन उस व्यक्ति को फिर भी 'सुरभिचन्दन खण्डम्' की प्रतीति हो जाती है। इस प्रतीति में चन्दन और चन्दनत्व नामक जाति और उसके सौरभ गुण तीनों को चाक्षुष प्रत्यक्ष बताना 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' नामक अलौकिक प्रत्यक्ष से सम्भव होता है। तीसरा अलौकिक प्रत्यक्ष योगज प्रत्यक्ष है। भूत, भविष्य आदि की वस्तुओं के साथ लौकिक इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं बन पाता है। अतएव वहां योगियों को अपनी योगज सामर्थ्य से अलौकिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष हो जाता है। इस तरह से 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' 'ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति' तथा योगज प्रत्यक्ष की तीनों कोटियां अलौकिक प्रत्यक्ष की श्रेणी में आते हैं। अपने इस अध्ययन की संक्षिप्त पुनरावृत्ति हम एक बार फिर से कर लें, ताकि नैयायिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान को हम और स्पष्ट रूप में समझ सकें।

3.7 सारांश:-

पहले आपने प्रत्यक्ष के दो भेद जाने- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष। लौकिक और अलौकिक की दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान का एक और विभाजन किया गया। फिर लौकिक प्रत्यक्ष- बाहय और मानस दो प्रकार का बताया गया। अलौकिक प्रत्यक्ष की तीन श्रेणियां बताई गईं- 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' और योगज प्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकारों के विभाजन के उपरान्त इस इकाई में आपने यह भी पढ़ा कि लौकिक प्रत्यक्ष का ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और वह सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है। संयोग सन्निकर्ष जैसे इन्द्रिय तथा घट का सन्निकर्ष संयोग सन्निकर्ष माना जाता है। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा घट में स्थित श्याम रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से होता है। फिर जब हम घट में घटत्व आदि सामान्य जाति का प्रत्यक्ष करते हैं तो वह संयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है। चौथा सन्निकर्ष समवाय सन्निकर्ष है जो श्रोतेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण करते समय होता है। समवेत समवाय नामाक सन्निकर्ष शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दत्व जाति ग्रहण के समय होता हैं

छठा सन्निकर्ष विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है। जब हमें भूतल में घटाभाव का ज्ञान होता है तो वह विशेषणविशेषभाव सन्निकर्ष से होता है।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली:-

प्रमा - यथार्थ ज्ञान

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष- बाह्येन्द्रियों (चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत) तथा अन्तरिन्द्रिय मन का अर्थ यानी जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है उसके साथ सम्बन्ध

निर्विकल्पक- नाम जाति आदि से रहति किसी वस्तु का पव्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान

सविकल्पक- नाम जाति आदि के साथ उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान

हानोपादानोपेक्षा बुद्धि- त्याग करना है अथवा ग्रहण करना है इसकी बुद्धि

अवान्तर व्यापार- किसी से उत्पन्न तथा अन्य किसी वस्तु को उत्पन्न करने वाला अर्थात् मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाला

अयुतसिद्ध सम्बन्ध- अस्तित्वकाल में जिसे एक दूसरे से अलग न किया जा सके।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति- सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान

ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति- पूर्व में ग्रहण किए गए ज्ञान के आधार पर उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान

योगज प्रत्यक्ष- योगियों के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष

लौकिक प्रत्यक्ष- सामने अथवा प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न ज्ञान

अलौकिक प्रत्यक्ष- जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान सीधे-सीधे न हो

अनुव्यवसाय- ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान

बोध प्रश्न-2

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. लौकिक प्रत्यक्ष कितने प्रकार का होता है?
2. योगज सन्निकर्ष किस श्रेणी में आता है
3. सुरभिचन्दनखण्डम् किस प्रत्यक्ष का उदाहरण है?
4. मनुष्यत्व अथवा गोत्व जाति का प्रत्यक्ष कैसे होता है?

3.9 उत्तर माला बोध प्रश्न

1. छह
2. संयुक्तसमवेतसमवाय

3. नामजाति आदि के साथ उत्पन्न ज्ञान
4. जाति

बोध प्रश्न-2

1. दो-बाह्य और मानस
2. अलौकिक प्रत्यक्ष
3. ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति का उदाहरण
4. सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से

3 .10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

केशव मिश्रः तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990
डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987
गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992
दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988
शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991
राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस
शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986
चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980
सिंह, उदय नारायण- न्यायदर्शनम्, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004
अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, 2007

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1. संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत कीजिए
2. सविकल्पक प्रत्यक्ष क्या होता है, इसकी विस्तृत व्याख्या कीजिए
3. षोढ़ा सन्निकर्ष का संक्षेप में वर्णन कीजिए
4. ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति की व्याख्या कीजिए

इकाई- 4 तर्कभाषा - अनुमान प्रमाण - व्याप्ति एवं इसके भेदों की मीमांसा - मूल पाठ अर्थ एवं व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 परिचय
4.4 लक्षण एवं उदाहरण
4.5 अनुमान के भेद
    4.5.1 स्वार्थानुमान
    4.5.2 परार्थानुमान
4.6 व्याप्ति की परिभाषा एवं उसके भेद
    4.6.1 अन्वयव्यतिरेकी व्याप्ति
    4.6.2 केवलान्वयी व्याप्ति
    4.6.3 केवल व्यतिरेकी व्याप्ति
4.7 सारांश
4.8 पारिभाषिक शब्दावली
4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न
4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.1 प्रस्तावना:-

पूर्व की इकाइयों में आप न्याय दर्शन का संक्षिप्त इतिहास, प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय की तत्त्वमीमांसा, प्रमेयों के नाम, प्रमाण, कारण के स्वरूप इत्यादि विषयों का अध्ययन कर चुके हैं। अपनी चौथी अध्ययन इकाई में आप प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा, प्रत्यक्ष के भेद, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की व्याख्या इत्यादि विषयों पर विस्तृत अध्ययन भी कर चुके हैं। अब तक के अपने अध्ययन के बाद आप को यह स्मरण करना मुश्किल नहीं होगा कि नैयायिकों ने अपने प्रमाणों के चार भेद बताए हैं, यथा प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, उपमान प्रमाण और शब्द प्रमाण। अपनी चौथी अध्ययन इकाई में आप प्रत्यक्ष प्रमाण का विस्तृत अध्ययन पहले ही कर चुके हैं। वर्तमान अध्ययन इकाई में अब हम अनुमान प्रमाण के बारे में विस्तृत चर्चा करेंगे। ध्यान देने वाली बात यह है कि अनुमान प्रमाण को अकसर न्याय दर्शन का प्राण बताया जाता है। हम अनुमान प्रमाण की चर्चा के विस्तार में आगे बढ़ें, इसके पहले हमें यह भी स्मरण कर लेना चाहिए कि नैयायिकों के अनुमान प्रमाण की स्पष्ट समझ प्राप्त करने के लिए हमारे लिए व्याप्ति के नियम को समझना अनिवार्य है, क्योंकि संक्षेप में आप यह भी कह सकते हैं कि अनुमान प्रमाण का प्राण व्याप्ति की अवधारणा है। आपको याद होगा कि व्याप्ति को नियत साहचर्य नियम भी कहते हैं, और यह कार्यकारण सम्बन्ध पर आश्रित है। कारण प्रकरण पर केन्द्रित अपनी अध्ययन इकाई में आप पहले ही पढ चुके हैं कि कारण कार्य का नियतपूर्ववर्ती होता है। आप इन बातों को अपनी स्मृति में ताजा कर लें क्योंकि व्याप्ति के नियमों को समझते समय आपको अपने इस पूर्व अध्ययन की आवश्यकता महसूस होगी। आप यह भी ध्यान रखें कि पूर्व की भांति इस अध्ययन इकाई में भी हम अपने अध्ययन को केशव मिश्र कृत तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर आगे बढ़ाएंगे।

4.2 उद्देश्य:-

- इस इकाई के अन्तर्गत आप अनुमान प्रमाण के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- लिंग और परामर्श जैसे पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या से आप परिचित हो सकेंगे।
- अनुमान ज्ञान के लिए आवश्यक व्याप्ति के नियमों को आप जान सकेंगे
- अनुमान प्रमाण के पंचवाक्यों से अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन से आप परिचित हो सकेंगे

4.3 परिचय:-

अनुमान का इतिहास लम्बा और पुराना है। वैदिक साहित्य में स्पष्टतः अनुमान की तार्किक प्रक्रिया का विश्लेषण तो नहीं उपलब्ध होता किन्तु यत्र-तत्र अनुमान के व्यावहारिक उदाहरणों की प्रचुरता दिखाई देती है। निश्चित तौर पर प्रत्यक्ष प्रमाण से हमें यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है किन्तु अपने आविर्भाव के समय से ही नैयायिकों का अनुमान से गहरा लगाव रहा है। अनु उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु में ल्युट् प्रत्यय जुड़ने से अनुमान शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ है पश्चात ज्ञान। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात चिन्ह से पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। आप यह भी कह सकते हैं कि दो ज्ञात सत्यों से किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। धुएं और अग्नि के ज्ञान से पर्वत में अग्नि का ज्ञान अनुमान ज्ञान कहलाएगा इसे आप आगे स्पष्ट रूप से समझ पाएंगे। गौतम ने न्याय सूत्र में तीन प्रकार के अनुमान प्रमाण की चर्चा की है—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च। पूर्ववत, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट नामक भेद से अनुमान तीन प्रकार का होता है। लेकिन तर्कभाषाकार ने अनुमान के दो ही भेद किए हैं। ये भेद मुख्यतः वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित किए गए हैं, जिनका अध्ययन आप वर्तमान इकाई में आगे करेंगे।

4.4 लक्षण एवं उदाहरण:-

आप जानते ही हैं कि नैयायिकों के चार प्रमाण भेद हैं, और सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या करने के बाद नैयायिक अनुमान प्रमाण की व्याख्या करते हैं। व्याख्या के इस अनुक्रम के बावजूद नैयायिकों की ज्ञानमीमांसा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार अनुमान प्रमाण को ही बताया जाता है। प्रश्न उठता है कि अनुमान पद से उनका अभिप्राय क्या है? नैयायिकों ने अनुमान उस प्रक्रिया को कहा है जिसमें हम एक सूचक चिन्ह की उपस्थिति को देखकर (जिसे नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली में लिंग कहा गया है) किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व का बोध करते हैं, और इस ज्ञान बोध का आधार यह होता है कि देखे गए लिंग तथा बोध की गई वस्तु के बीच सदा उपस्थित रहने वाला एक सम्बन्ध है, जिसे नैयायिकों ने अपनी शब्दावली में व्याप्ति का नाम दिया है। अनुमान की परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार दी गई है—

लिंगपरामर्शोऽनूमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिंगपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंगपरामर्शोऽनुमानम्। तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणतवात्। अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः। तत्करणं धूमादिज्ञानम्।

अर्थात् लिंग के परामर्श को अनुमान कहते हैं। इस परिभाषा में (जिसे पारम्परिक शब्दावली में लक्षण कहा जाता है) 'लिंग' तथा 'परामर्श' दो शब्द हैं, स्पष्ट है कि लिंग तथा परामर्श इन दोनों शब्दों को ठीक से समझे बिना अनुमान के लक्षण को स्पष्ट तौर पर नहीं समझा जा सकता है। इसलिए देखते हैं कि तर्कभाषा में 'लिंग' का लक्षण किस तरह किया गया है।

तर्कभाषा के अनुसार – **'व्याप्ति बलेन अर्थगमकं लिंगम्'** अर्थात व्याप्ति बल से जो अर्थ का बोधक है, उसे लिंग कहते हैं। आपने लिंग के अर्थ को समझने का प्रयास किया, तो बीच में 'व्याप्ति' पद के आ जाने से आपको थोड़ी परेशानी हो रही होगी। आपको याद होगा कि व्याप्ति का अर्थ साहचर्य नियम से होता है, इसका आंशिक उल्लेख हम प्रस्तावना में पहले ही कर चुके हैं। सरल शब्दों में साहचर्य नियम को इस तरह से समझ सकते हैं- कारण और कार्य का सदा साथ-साथ उपस्थित रहना। उदाहरणस्वरूप 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वन्हिः'। अर्थात जहां-जहां धुआं होता है, वहां-वहां अग्नि होती है, इसी साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। यह उदाहरण तो आपने स्वयं अपने व्यावहारिक जीवन में भी अनुभव किया होगा। आपने पहले यह पढ़ा भी है कि नैयायिक सत्य की कसौटी को व्यवहार मानते थे। धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है, अतः धूम अर्थ का बोध कराने वाला हुआ, और इसलिए वह लिंग कहलाता है।

अनुमान के लक्षण में तर्कभाषाकार ने दूसरा शब्द 'परामर्श' प्रयुक्त किया है। आइये, हम अब इसे भी समझने की कोशिश करते हैं। परामर्श के दो अर्थ हमें न्याय के ग्रन्थों में मिलते हैं, पहला अर्थ इस प्रकार किया गया है- लिंगस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। अर्थात लिंग के तृतीय ज्ञान को परामर्श कहते हैं। दूसरा अर्थ है- व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शः अथवा व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं। लिंग और परामर्श का अर्थ स्पष्ट हो जाने के बाद आप अब तक यह समझ चुके हैं कि लिंग परामर्श को अनुमान कहते हैं। और वह लिंग परामर्श धूमादिज्ञान रूप है, अनुमिति के प्रति करण होने से। प्रश्न है कि अनुमिति क्या है? अनुमान प्रमाण से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे ही हम अनुमिति कहते हैं। इस उदाहरण में धुएं को देखकर अग्नि आदि का ज्ञानबोध अनुमिति है। अतः धूम आदि ज्ञान अग्नि आदि ज्ञान का करण होने से अनुमान है।

आप अपनी पूर्व इकाई में कारण के स्वरूप की विवेचन के क्रम में करण क्या होता है, इस प्रश्न की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। लिंग और परामर्श क्या होता है यह प्रश्न अभी भी आपके मन में स्वाभाविक तौर पर शायद उठ रहा होगा, आइए जरा विस्तार से देखते हैं कि तर्कभाषाकार ने इसका उत्तर देते हुए क्या कहा है— **व्याप्ति बलेनार्थगमकं लिंगम। यथा धूमोऽग्नेलिंगम तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्य नियमो व्याप्तिः। तस्यां गृहीतायमिव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति। अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिंग। तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। तथाहि प्रथमं**

ताबन्महमसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वन्हिं पश्यति। तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमेवधारयति, यत्र धूमास्तत्राग्निरिति।

अभी तक आपने यह पढ़ा कि व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान ही अनुमान है। आपने यह भी पढ़ा कि साहचर्य नियम या स्वाभाविक नियम को ही व्याप्ति कहते हं, जैसे जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है, यथा महानस अथवा रसोईघर में। भूयोदर्शन अथवा रसोईघर में बार-बार धुएं के साथ आग का दर्शन करने के बाद पर्वत आदि स्थलों में धुएं का यदि हमें दर्शन होता है, तो धुएं का यही ज्ञान द्वितीय ज्ञान कहा जाता है। इस द्वितीय ज्ञान से स्वाभाविक तौर पर पूर्वगृहीत धूम और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण होता है, और तब 'वन्हिव्याप्य धूमावांश्चायं पर्वतः' अर्थात् यह पर्वत धूम से युक्त अग्नि से व्याप्त है, इस प्रकार का ज्ञान होता है, और इसे ही नैयायिकों की पारिभाषिक शब्दावली में तृतीय ज्ञान कहा जाता है। और यही तृतीय ज्ञान अनुमिति के प्रति करण होने से अनुमान कहा जाता है। इसी तृतीय ज्ञान के बाद 'तस्मात् पर्वतो वन्हिमान्' इसलिए पर्वत बन्हि युक्त है, यह अनुमिति हो जाती है।

इस तृतीय ज्ञान का बोध कराने वाले इस उदाहरण की अर्थात वन्हिव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः की व्यापक व्याख्या तर्कभाषा में की गई है। आप प्रारम्भ में ही यह बात समझ चुके हैं कि 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' को अनुमान कहते हैं। यहां यह समझ लेना उपयोगी होगा कि तृतीय ज्ञान के दो अंश होते हैं- एक अंश 'व्याप्ति' को सूचित करता है, और दूसरा अंश 'पक्षधर्मता' को। 'वन्हिव्याप्य' इतने अंश से व्याप्ति सूचित होती है, और 'धूमवांश्चायं पर्वतः' इस अंश से धूम का पर्वत रूपी पक्ष में अस्तित्व प्रतीत होता है। इसी को पक्षधर्मता ज्ञान कहते हैं। इस तरह हम देख चुके हैं कि 'वन्हिव्याप्यधूमवाश्चायं पर्वतः' के इस तृतीय ज्ञान में व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों ही विद्यमान हैं, इसलिए इस तृतीय ज्ञान को 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान' भी हम कह सकते हैं।

4.5 अनुमान के भेदः-

जैसा कि आप जानते हैं अनुमान के दो भेद बताए गए हैं, यथा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

4.5.1 स्वार्थानुमानः-

तर्कभाषा में स्वार्थानुमान की परिभाषा इस प्रकार की गई है— **तच्चानुमानं द्विविधम्। स्वार्थ परार्थ चेति। स्वार्थ स्वप्रपत्ति हेतुः। तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्नयोर्व्याप्ति गृहीत्वा पर्वत समीपं गतस्तद्गते चाग्रौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्न मूलाप्रभ्रलिहां धूम-लेखा पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तत्रोऽत्रापि**

धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्त पर्वतेऽअग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम्।

तर्कभाषाकार कहते हैं कि हेतु दर्शन से स्वयं प्राप्त किया गया ज्ञान अनुमान ज्ञान कहलाता है। किसी व्यक्ति ने यदि रसोईघर में प्रत्यक्ष प्रमाण से यह ज्ञान प्राप्त किया है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। इस ज्ञान के द्वारा स्वयं ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर पर्वत के समीप जाकर पर्वतगत अग्नि के विषय में सन्देह होने पर (पर्वत में अग्नि है या नहीं) पर्वत पर व्याप्त अविच्छिन्नमूला धूम की रेखा को देखकर धूम के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार से धुएं और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण करता है। उसके बाद पर्वत में धुआं है, इसलिए उस पर्वत पर अग्नि भी है, यह जान लेता है। इस प्रकार स्वयं के प्रत्यक्ष पर आधारित यह अनुमान ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।

4.5.2 परार्थानुमानः-

जब किसी दूसरे व्यक्ति को पांच अवयवों से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। तर्कभाषा में परार्थानुमान का लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है—

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधपितुं पंचावयवमनुमानवाक्यं प्रयुंक्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्वात्, यो यो धूमवान ससोऽग्निमान् यथा महानसः, तथा चायं तस्मात्तथा इति। अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पंचरुपोपन्ना लिंगात परोऽप्यऽग्निं प्रतिपद्यते। तेनैतत् परार्थानुमानम्।

परार्थानुमान से तात्पर्य है दूसरे के द्वारा अनुमान का बोध कराना। स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को यह ज्ञान कराने के लिए पंचावयवां से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है और यही अनुमान ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। हम अब कुछ उदाहरणों से इसे समझने की कोशिश करेंगे। 1. यह पर्वत अग्निमान है (यह प्रथम अवयव प्रतिज्ञा है) 2. धूम युक्त होने से (यह हेतु रूप दूसरा अवयव है) 3. जो-जो धूमयुक्त होता है, वह-वह वन्हियुक्त भी होता है, जैसे रसोई घर (यह तीसरा अवयव उदाहरण हुआ) 4. यह पर्वत भी उसी प्रकार धूमयुक्त है (यह उपनय नामक चौथा अवयव हुआ) 5. इसलिए पर्वत अग्नियुक्त है (यह निगमन रूप पांचवां अवयव हुआ) और पर्वत अग्नियुक्त है इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह ज्ञान दूसरा व्यक्ति जब जान लेता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के ज्ञान के लिए व्याप्ति सम्बन्ध अनिवार्य है। व्याप्ति और उसके भेदों का अध्ययन आप इसके पूर्व की इकाई में कर चुके हैं। धूम और अग्नि की व्याप्ति में आपने देखा है कि धूम हेतु है और अग्नि साध्य है। अनुमान ज्ञान के लिए सही हेतु का होना आवश्यक होता है

लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हेतु सदोष होता है। वही हेतु निर्दोष माना जाता है जो साध्य की सिद्धि मे समर्थ हो यानी कि पक्षधर्मता आदि रूपों से युक्त हो। सदोष हेतु हेत्वाभास कहलाते हैं। हेत्वाभास का अध्ययन आप अपनी अगली अध्ययन इकाई में विस्तारपूर्वक करेंगे।

बोध प्रश्न प्रथम

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए-

1. अनुमान का लक्षण है-
क. लिंगपरामर्शोऽनुमानम्
ख. व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिंगम
ग. साध्य व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः
घ. इनमें से कोई नहीं
2. तर्कभाषाकार के अनुसार अनुमान के भेद होते हैं-
क. एक ख. दो
ग. तीन घ. चार
3. न्याय सूत्र के अनुसार अनुमान के भेद हैं-
क. दो
ख. तीन
ग. चार
घ. पांच
4. इनमें से पक्ष क्या है-
क. पर्वत
ख. रसोईघर
ग. तालाब
घ. इनमें से कोई नहीं
5. आर्द्रेन्धन संयोग क्या है
क. उपाधि ख. व्याप्ति
ग. हेत्वाभास घ. इनमें से कोई नहीं

आइए अब व्याप्ति की चर्चा को भी थोड़ा आगे बढ़ाया जाय। तर्कभाषा में व्याप्ति के अर्थ को स्पष्ट करते समय दो बातें मुख्य रूप से प्रतिपादित की गई हैं। इनमें पहली बात यह है कि व्याप्ति का

ग्रहण 'भूयः सहचार दर्शन' से होता है, और व्याप्ति एक साहचर्य या स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। लेकिन यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि हर जगह 'भूयः सहचारदर्शन' से स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय नहीं किया जा सकता है, इस बात को इस तरह समझ सकते हैं। आप जहां जहां धुआं देखते हैं वहां -वहां अग्नि का दर्शन करते हैं और बार-बार देखने के बाद आपको इस स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान होता है कि जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग होती है। लेकिन इसके ठीक विपरीत यदि बार-बार जहां आग होती है वहां-वहां धुआं होता है, इसे भी हम स्वाभाविक सम्बन्ध मान लेंगे तो यह ज्ञान अवश्य ही दोषपूर्ण हो जाएगा, क्योंकि 'भूयः सहचार दर्शन' होने के बावजूद भी यह यह सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध या व्याप्ति नहीं कहलाएगा। क्यों? क्योंकि आप यह भी देख सकते हैं कि यदि लोहे के एक गोले को गर्म कर दिया जाय तो उसमें अग्नि तो होती है परन्तु धूम नहीं होता। इसलिए 'यत्र-यत्र वन्हिस्तत्र तत्र धूमः' यह स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं अपितु औपाधिक सम्बन्ध कहलाता है। इसमें 'आर्द्र इन्धन संयोग' 'उपाधि' है।

हम देखते हैं कि नैयायिक यहां पर एक नए शब्द 'उपाधि का प्रयोग करते हैं। स्पष्ट है कि हमें भी इस शब्दावली को संक्षेप में अवश्य समझ लेना चाहिए। तर्कभाषा में उपाधि का लक्षण इस प्रकार किया गया है- **साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः।** अर्थात् जो धर्म साध्य का व्यापक हो, और साधन का अव्यापक हो, अर्थात जो धर्म साध्य में व्याप्त हो और साधन में अव्याप्त हो, उसे उपाधि कहते हैं। औपाधिक सम्बन्ध को तर्कभाषा में उदाहरण के जरिए भी इस तरह समझाया गया है—

तद्यपि यत्र-यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वमपीति भूयो दर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वर्योन स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्त्वौपाधिक एव। शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेविद्यमानत्वात्। तथा हि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणति भेद एव प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते।

इसका अभिप्राय यह है कि मैत्री नामक किसी स्त्री के पांच पुत्र हैं, जिनमें चार पुत्रों को हमने देखा है, और वे सभी पुत्र श्याम वर्ण के हैं। पांचवां पुत्र, जिसे हमने नहीं देखा है, गौर वर्ण का है। लेकिन जिस व्यक्ति ने मैत्री के चार श्याम वर्ण के पुत्रों को देखा है, वह भूयो सहचार दर्शन के आधार पर मैत्रीतनयत्व और श्यामतनयत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति मानते हुए पांचवां पुत्र भी श्याम वर्ण का होगा, ऐसा अनुमान कर सकता है। इस उदाहरण में मैत्रीतनयत्व हेतु अथवा साधन है, और श्यामत्व साध्य है। लेकिन यह हेतु सोपाधिक अर्थात उपाधि के लक्षण से युक्त है, क्योंकि पुत्र के श्याम वर्ण के होने में मैत्रीतनयत्व कारण नहीं है बल्कि गर्भकाल में किए गए आहार का प्रभाव है। यदि माता गर्भ काल में दुग्ध इत्यादि पदार्थों का अधिक सेवन करती है तो बालक गौर वर्ण का होता है

इसके विपरीत यदि माता हरी शाक-सब्जी इत्यादि का अधिक सेवन करती है तो बालक श्याम वर्ण का होता है (यह आधुनिक विज्ञान के अभ्युदय काल से पहले का उदाहरण है, और विज्ञानसम्मत न होने पर भी वर्तमान प्रसंग में यह उदाहरण सारतः उपयुक्त है)। अतः यहां कारण मैत्रीतनयत्व न होकर 'शाकपाकजन्यत्व' हुआ। इसलिए यह स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर सोपाधिक सम्बन्ध हुआ। और क्योंकि इसमें व्याप्ति का लक्षण नहीं घटता, इसलिए यह अनुमान प्रमाण नहीं होगा। क्यों? क्यांकि न्याय दर्शन में व्याप्ति विशिष्टिपक्षधर्मताज्ञान को ही अनुमान कहते हैं।

धूम और अग्नि के बीच किसी तरह का औपाधिक सम्बन्ध नहीं है, इसकी व्याख्या तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने विस्तार से प्रस्तुत की है। क्योंकि इसी उदाहरण के आधार पर अभी तक आप अनुमान प्रमाण को समझते आए हैं, इसलिए इसके थोड़ा विस्तार में जाना उपयोगी होगा—

न च धूमाग्नयोः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरसित। अस्ति चेत् योग्योऽयोग्यो या। अगोग्यस्य शंकितुमशक्यत्वात् योग्यस्य चानुपलभ्यमानत्वात्। यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते। यथा अग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। हिंसात्वस्य चाधर्मसाधननेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः। मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः।

इसका अर्थ आप इस तरह समझ सकते हैं- धूम और अग्नि के बीच कोई औपाधिक सम्बन्ध नहीं बल्कि स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योंकि यदि औपाधिक सम्बन्ध होता तो हमें वह प्रत्यक्ष दिखाई देता, जैसा जहां-जहां अग्नि है, वहां-वहां धूम है कथन में दिखता है। इन स्थलों में हमें जिस बात का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, उसे आर्द्र इन्धन संयोग उपाधि कहते हैं। आप व्यावहारिक जीवन में भी यह अनुभव करते हैं कि अग्नि के साथ धुएं का अस्तित्व तब होता है जब गीली लकड़ी और आग का संयोग होता है, क्योंकि यदि लकड़ी गीली नहीं है तो वहां आग होने पर भी धुआं नहीं होगा। इसी प्रकार मैत्रीतनयत्व के साथ भी जो 'शाकपाकजनयत्व' उपाधि है वह भी हमें दिखाई देती है। तर्कभाषाकार इस चर्चा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्येकश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्तत्तोऽद्रक्ष्यत्, ततो दर्शनभावान्नस्ति। इति तर्कसहकारणानुपलम्भसनाधेन। प्रत्यक्षेणैवोपाध्यो भावोऽवधायते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनित संस्कार सहकृतेन साहचर्यग्रहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्ति रवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

इसका अर्थ यह है कि यहां धूम के साथ अग्नि के साहचर्य में कोई उपाधि नहीं है, क्योंकि यदि उपाधि होती तो वह दिखाई देती। वह प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए वह नहीं है, क्योंकि किसी वस्तु की अनुपलब्धि

से ही अभाव का निश्चय होता है। इसलिए स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति सम्बन्ध को आप इस तरह भी समझ सकते हैं। जहां उपाधि के अभाव का प्रत्यक्ष दर्शन हो, और उस ज्ञान से सम्पन्न ('सहकृत') तथा बार-बार देखने के ज्ञान से प्राप्त ('भूयः सहचार जन्य') संस्कार से धुएं तथा अग्नि के साहचर्य का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा किया गया हो, और इस तरह धुएं तथा अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण किया गया हो, वही व्याप्ति सम्बन्ध होता है। इसे आगे व्याख्यायित करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं—

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौं गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद्द्वितीयम्। तत् पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योव्याप्तिं वर्तते पुनधूर्मं परामृशति। अस्त्यत्र पर्वते वन्हिना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्।

एतश्चावश्यमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येव स्यात्। इह तु कथमग्निना भवितव्यम्। तस्मादिहापि धूमोऽस्ति इति ज्ञानं अन्वेषितव्यम्। अयमेव लिंग परामर्शः। अनुमितिं प्रतिकरणत्वाच्चानुमानम्। तस्मात्, अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते।
आप इस इकाई के प्रारम्भ में ही पढ़ चुके हैं कि तृतीय ज्ञान को परामर्श कहते हैं। यह तृतीय ज्ञान क्या होता है? तर्कभाषा के इस उद्धरण में इसी बात की व्याख्या हमें उपलब्ध होती है। उपाधि के अभाव के प्रत्यक्ष दर्शन से और धूम और अग्नि की व्याप्ति ग्रहण करने में, भूयःसंचार दर्शन से धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान महानस अथवा रसोईघर में होता है, उनमें इस स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान प्रथम ज्ञान हुआ। पर्वत इत्यादि जगहों में ('पक्ष' में) जो धूम का ज्ञान है, वह द्वितीय ज्ञान हुआ। पूर्वगृहीत धूम और अग्नि के व्याप्ति का स्मरण करके 'वन्हिव्याप्यधूमवांश्चायं' पवर्त' अर्थात पर्वत में वन्हिव्याप्य धूम के ज्ञान का बोध करना परामर्श अथवा तृतीय ज्ञान कहलाता है।

तृतीय ज्ञान को अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि तृतीय ज्ञान ही अनुमान ज्ञान होता है। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो 'जहां धूम होगा वहां अग्नि होगी' इस प्रकार के सामान्य ज्ञान का हम बोध कर लेंगे। पक्ष अर्थात पर्वत में अग्नि क्यों होनी चाहिए इसके लिए इस व्याप्ति का ज्ञान पर्याप्त होता है कि 'जहां-जहां धूम होता है वहां -वहां अग्नि होती है', इसी को लिंग परामर्श कहते हैं। और अनुमिति के प्रति करण होने से यही अनुमान कहलाता है, क्योंकि इस लिंग परामर्श रूप तृतीय ज्ञान से ही पर्वत में अग्नि है इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। तर्कभाषा में प्रश्न उठाकर तथा उसका निराकरण करके इस अनुमान ज्ञान के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस तरह किया गया है— **ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमानयति सत्यम्। व्याप्तेगृहीतत्वात्। गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्। अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम् मैवम्।**

अग्नेर्द्रष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात्। सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते। यथोक्तं भाष्यकृता। नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धें,

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुसो यद्धूमज्ञानं, तत्कथं नाग्निमनुमापयति। अस्ति चात्राग्निसन्देहः। साधकवाधक प्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तवात्। सत्यम्। अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्ति स्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात्। धूमदर्शनाच्चोद्बद्ध संस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यो-यो धूमवान सो-सो अग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिसमृतौ भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं 'धूमवांश्चायम्' इति। तेदवाग्निमनुमापयति नान्यत् तदेवानुमानम्। स एव लिंग परामर्शः। तेन व्यवस्थितमेत-लिंगपरामर्शोऽनुमानमिति।

रसोईघर में जो प्रथम धूम ज्ञान है उसी से अग्नि का अनुमान क्यों नहीं कर लिया जाता है? इसका उत्तर नैयायिक इस प्रकार देते हैं- प्रश्न तो ठीक है किन्तु प्रथम धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि व्याप्ति ग्रहण के पश्चात ही हमें अनुमान ज्ञान होता है। आप इस बात को पहले भी पढ़ चुके हैं कि व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान ही अनुमान कहलाता है।

लेकिन इस समाधान के बाद भी दूसरा प्रश्न यह उठाया गया है कि व्याप्ति ग्रहण के पश्चात रसोईघर में ही अग्नि का अनुमान होना चाहिए। नैयायिकां का उत्तर है कि यह भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि महानस में अग्नि का चूंकि प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है इसलिए वहां सन्देह नहीं उपस्थित हो सकता, और क्योंकि सन्दिग्ध अर्थ में ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है, और इसलिए न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन की उक्ति को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि न तो अनुपलब्ध अर्थात अज्ञात अर्थ में और न ही निर्णीत अर्थ में ही न्याय प्रवृत्त होता है। इस पर प्रश्न यह उठता है कि व्याप्ति ग्रहण के बाद पर्वत पर पहुंचे हुए मनुष्य का जो धूमज्ञान अर्थात

व्याप्तिस्मरण के पूर्व का द्वितीय ज्ञान होने पर अग्नि का अनुमान होना चाहिए, क्योंकि यहां अग्नि का सन्देह तो है। 'साधक-बाधक प्रमाण' के अभाव में सन्देह होना उचित ही है। इसका उत्तर भी हमें तर्कभाषा में प्राप्त होता है। नैयायिक कहते हैं पर्वत में हुए धूम ज्ञान को भी हम अनुमान ज्ञान नहीं कह सकते, क्योंकि यहां पर व्याप्ति का स्मरण नहीं हो रहा है। स्मृति के अभाव में अनुमिति नहीं हो सकती। द्वितीय धूम ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार से ही इस व्याप्ति का स्मरण होता है कि 'जो-जो धूमवान होता है वह-वह वन्हिमान होता है'। यह पर्वत धूमवान है इसलिए यह वन्हिमान होगा। इस तरह से वन्हियुक्तपर्वत का प्राप्त किया जाने वाला तृतीय ज्ञान लिंग परामर्श है, इसलिए लिंगपरामर्शोऽनुमानम् यह लक्षण सिद्ध होता है। अभी तक आपने यह पढ़ा कि अनुमान क्या है। लिंग और परामर्श किसे कहते हैं, अनुमान ज्ञान में व्याप्ति की क्या भूमिका है, और व्याप्ति किसे कहते हैं। आगे हम व्याप्ति के

भेदों को भी तर्कभाषा को आधार बनाकर समझने का प्रयास करेंगे। इस व्याप्ति के तीन तरह के भेद बताए गए हैं, जिन्हें अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, तथा केवलव्यतिरेकी नाम से जाना जाता है। 'वन्हिव्याप्य धूमावांश्चायंपर्वतः' अन्वयव्यतिरिक व्याप्ति के इस उदाहरण को समझाते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं—

अत्र पर्वतस्याग्निमत्वं साध्यं, धूमवत्वं हेतुः। स चान्यवयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्वात्। तथा हि यत्र-यत्र धूमवत्वं तत्राग्निमत्वं यथा महानसे इत्यन्वय व्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्वय सद्भावात्। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

इस अनुमान में पर्वत का अग्निमत्व साध्य है, धूमवत्व हेतु अर्थात साधन है और वह हेतु अर्थात कारण अन्वयव्यतिरेकी हेतु है। क्योंकि उसकी अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति में उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे जहां-जहां धूमत्व होता है वहां-वहां अग्निमत्व होता है, जैसे रसोईघर में। यह अन्वय व्याप्ति हुई। इसी प्रकार जहां-जहां अग्नि का अभाव होता है वहां-वहां धूम का अभाव होता है, जैसे तालाब में। ऐसा व्यतिरेक प्रभाव होने से होता है। महाह्रद में आप जानते ही हैं कि जल होने के कारण अग्नि हो ही नहीं सकती, और जब अग्नि का अभाव होगा तो धुएं का अभाव भी वहां निश्चित रूप से होगा। इस तरह यह अनुमान वाक्य महानस में अन्वयव्याप्ति का तथा महाह्रद में व्यतिरेक व्याप्ति का एक उदाहरण बन जाता है। अतः धूमवत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु हुआ।

आपको यहां ध्यान देना होगा कि तर्कभाषा में नैयायिकों ने **'पर्वतो धूमवत्वात् धूमवान् सोऽग्निमान यथा महानसः'** इत्यादि अनुमान वाक्य में केवल अन्वय व्याप्ति होने का उदाहरण दिया है, क्योंकि व्यतिरेक यहां सरल है। वस्तुतः इस उदाहरण में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति का उदाहरण आप अभी देख ही चुके हैं। नैयायिकां का तर्क इस प्रकार है—

तदेवं धूमवत्वे हेतावन्वयेनं व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलंमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनऽपि चरितार्थत्वात्। तत्राप्यन्वयस्यावक्रत्वात् प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्धयतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात्।

उपर्युक्त उदाहरण में अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्तियों के होने के बावजूद जो केवल अन्वय व्याप्ति का ही प्रदर्शन किया गया है वह व्यतिरेक व्याप्ति की अपेक्षा अन्वय व्याप्ति के सरल होने के कारण। चूंकि एक ही व्याप्ति के प्रदर्शन से काम चल सकता है इसलिए सरल मार्ग का आश्रय लिया गया है, न कि व्यतिरेक व्याप्ति के अभाव के कारण ऐसा किया गया है।

अन्वयव्यतिरेकी हेतु को और अधिक स्पष्ट करने के लिए तर्कभाषाकार एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो इस प्रकार है—

एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणे द्रष्टव्याः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवद्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने।

इसका अर्थ यह है कि अनित्यवाद की सिद्धि कृतकत्वाद अन्य हेतु भी अन्वयव्यतिरेकी हेतु के उदाहरण जाने जाने चाहिए। जैसे कृतक (उत्पन्न) होने से शब्द घट के समान अनित्य है। जहां-जहां कृतकत्व रहता है वहां-वहां अनित्यत्व रहता है जैसे घट, यह अन्वय व्याप्ति हुई, क्योंकि आप जानते हैं कि घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होने के कारण इसमें अनित्यत्व धर्म की सिद्धि होती है। व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण भी इसमें निहित है, क्योंकि जहां-जहां अनित्यत्व का अभाव होता है वहां-वहां जन्यत्व का भी अभाव होता है, जैसे गगन अथवा आकाश। व्यतिरेक व्याप्ति बनाते समय साध्य और हेतु के साथ अभाव पद जुड़ जाता है। तथा व्याप्यव्यापकभाव बदल कर उलटा हो जाता है।

अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति को उदाहरण के साथ समझाने के बाद तर्कभाषाकार केवल व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— **कश्चिदहेतुः केवल व्यतिरेकी। तद्यथा, सात्मकत्वे साधो प्राणादिमत्वं हेतुः। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्। यत! सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति। यथा घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरं सात्मकत्वे प्राणादिमत्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात तथा हि यत् प्राणादिमत् तत सात्मकं यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्व पक्ष एव।**

अर्थात् कोई हेतु केवल व्यतिरेकी होता हैं जैसे सात्मकत्व के साध्य होने में प्राणादिमत्व हेतु है। सात्मक से अभिप्राय है आत्मायुक्त होना। जैसे जीवित शरीर सात्मक है प्राणादियुक्त होने से इस अनुमान में अन्वयव्याप्ति का उदाहरण न होने से केवलव्यतिरेकी हेतु है। जो सात्मक नहीं होता वह प्राणादियुक्त नहीं होता, जैसे घट। जीवित शरीर प्राणादिमत्व है, इसलिए यह सात्मक है। इस उदाहरण में जो प्राणादिमत् है वह सात्मक है, इस प्रकार की अन्वयव्याप्ति का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

तर्कभाषा में व्यतिरेक व्याप्ति को समझाने के लिए लक्षण का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्। विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यं गन्धवत्त्वात्। यन्न पृथिवीति तन्न गन्धवत् यथापः।

इस उदाहरण को आप इस तरह समझ सकते हैं- लक्षण भी केवलव्यतिरेकी हेतु होते हैं। जैसे पृथिवी के लक्षण गन्धवत्व को हेतु बनाकर किसी विवादास्पद वस्तु को पृथिवी कहकर व्यवहार किया जाय, उसमें गन्धत्व होने के कारण। जहां पृथिवी का यह व्यवहार नहीं होता वहां गन्धत्व नहीं होता जैसे जल। यह व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण हुआ। लेकिन जहां-जहां गन्धत्व है वहां-वहां पृथिवी है, ऐसे व्यवहार का अन्वय व्याप्ति में कोई उदाहरण नहीं मिलता, इसलिए यह केवलव्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण हुआ। इस तरह आप देखते हैं कि तर्कभाषाकार व्यतिरेक व्याप्ति को अनेक उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं, आप यहां उनका अध्ययन भी कर चुके हैं। इन बातों को स्पष्ट करने के बाद तर्कभाषाकार केवलान्वयी हेतु को उदाहरण के साथ समझाने का प्रयास इस तरह करते हैं—

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्याभिधेयतवं साध्यं प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि यथामुक इति व्यतिरेक दृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः। स च प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति।

केवलान्वयी व्याप्ति को आप उपरिलिखित दृष्टान्त से समझ सकते हैं। शब्द जानने योग्य (अभिधेय) है, क्योंकि वह प्रमेय (ज्ञान का विषय) है। जो प्रमेय होता है वह अभिधेय होता है, जैसे घट। यह शब्द उसी प्रकार का प्रमेय है, अतएव वैसा ही अभिधेयत्व इसमें भी उपस्थित है।
यहां शब्द का अभिधेयत्व साध्य है, प्रमेयत्व हेतु अर्थात साधन है और वह केवलान्वयी है। जो अभिधेय नहीं होता है वह प्रमेय भी नहीं होता, इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण नहीं बन सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान होने वाला प्रामाणिक अर्थ ही हो सकता है। इस तरह से अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीन प्रकार की व्याप्ति को दृष्टान्त के साथ आपने विस्तार से समझा। पूरी इकाई के सार-संक्षेप का दोबारा स्मरण करते हुए हम उसे एक बार फिर से समझने का प्रयास करेंगे।

बोध प्रश्न

1. न्याय दर्शन अनुमान प्रमाण के लिए किसे अनिवार्य मानता है-

क. व्याप्ति सम्बन्ध

ख. औपाधिक सम्बन्ध

ग. हेत्वाभास

घ. इनमें से कोई नहीं

2. इनमें से सपक्ष क्या है

क. महाह्रद

ख. रसोईघर अथवा महानस

ग. पर्वत

घ. इनमें से कोई नहीं

3. परामर्श किसे कहते हैं-

क. प्रथम ज्ञान

ख. द्वितीय ज्ञान

ग. तृतीय ज्ञान

घ. चतुर्थ ज्ञान

4. जहां जहां अग्नि का अभाव है वहां-वहां धुएं का अभाव है यह व्याप्ति का उदाहरण है-

क. अन्वय व्याप्ति

ख. व्यतिरेक व्याप्ति

ग. अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति

घ. इनमें से कोई भी नहीं

5. जहां-जहां धूम का अभाव है वहां-वहां अग्नि का अभाव है, इसमें उपाधि क्या है

क. साहचर्य सम्बन्ध

ख. समवाय सम्बन्ध

ग. आर्द्रेन्धन संयोग सम्बन्ध

घ. इनमें से कोई नहीं

4.6 बोध प्रश्नों के उत्तर:-

1. क, 2. ख, 3. ख, 4. क, 5. क
2. क, 2. ख, 3. ग, 4. ख, 5. ग

4.7 शब्दावली:-

लिंग- हेतु अथवा कारण

परामर्श - साध्य का तृतीय ज्ञान

व्याप्ति - हेतु ओर साध्य के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध

व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान- पक्ष में व्याप्ति युक्त साध्य का ज्ञान

पक्ष - जहां साध्य सिद्ध करना हो जैसे यदि पर्वत में वन्हिव्याप्य धूमज्ञान का ज्ञान होता है तो यहां पर्वत पक्ष है।

सपक्ष- जहां साध्य का पहले दर्शन कर लिया गया हो जैसे रसोईघर

उपाधि- प्रयोजक अथवा निमित्त

4.8 सारांश:-

अनुमान नैयायिकों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। उनके प्रमाण भेद में प्रत्यक्ष प्रमाण के बाद दूसरे क्रम में अनुमान प्रमाण की व्याख्या की गई है। 'व्याप्तविशिष्टपक्षधर्मता' ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं। न्याय की भाषा में 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' यह अनुमान का लक्षण किया गया है। नैयायिकों को अनुमान प्रिय होने के कारण आप देखेंगे कि कहीं-कहीं न्याय का अर्थ ही अनुमान किया गया है। न्याय दर्शन में अनुमान के लिए हेतु और साध्य में स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति को अनिवार्य माना गया है। व्याप्ति की व्यापक व्याख्या आपने पढ़ी है। व्याप्ति के तीनों भेदों अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी का अध्ययन भी आपने इस इकाई में तर्कभाषा के मूल पाठ को आधार बनाते हुए किया है।

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. महर्षि गौतम- न्याय दर्शन, बौद्ध भारती, वाराणसी
2. केशव मिश्र- तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990
3. डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
4. हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987
5. गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992

6. दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988
7. शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991
8. राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस
9. शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986
10. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980
11. सिंह, उदय नारायण- न्यायदर्शनम्, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004
12. अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, 2007

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1. लक्षण और उदाहरण सहित अनुमान प्रमाण की व्याख्या कीजिए

2. व्याप्ति किसे कहते हैं। सभेद इनका विस्तार से उल्लेख कीजिए

3. उपाधि क्या है? सोदाहरण समझाइये

इकाई 5 तर्कभाषा- प्रमेय, पदार्थ निरूपण, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, हेत्वाभास- मूल पाठ का अर्थ एवं व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 प्रमेय पदार्थ का वर्णन

5.3.1 प्रमेय के भेद

5.3.2 आत्मा

5.3.3 शरीर

5.3.4 इन्द्रिय

5.3.5 अर्थ

5.3.6 बुद्धि

5.3.7 मन

5.3.8 प्रवृत्ति

5.3.9 दोष

5.3.10 प्रेत्यभाव

5.3.11 फल

5.3.12 दुःख

5.3.13 अपवर्ग

5.4 स्वार्थानुमान

5.5 परार्थानुमान

5.5.1 प्रतिज्ञा

5.5.2 हेतु

5.5.3 उदाहरण

5.5.4 उपनय
5.5.5 निगमन
5.6 हेत्वाभास
5.6.1 असिद्ध हेत्वाभास
5.6.2 विरुद्ध हेत्वाभास
5.6.3 अनैकान्तिक हेत्वाभास
5.6.4 प्रकरणसम हेत्वाभास
5.6.5 कालात्ययापदिष्ट अथवा बाधित हेत्वाभास
5.7 सारांश
5.8 पारिभाषिक शब्दावली
5.9 बोध प्रश्न
5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.11 निबन्धात्मक प्रश्न
5.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.1 प्रस्तावना:-

अब तक अपनी समस्त पूर्व अध्ययन इकाइयों में आप न्याय दर्शन के संक्षिप्त इतिहास से लेकर न्याय सम्मत अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का सविस्तार अध्ययन कर चुके हैं। केशव मिश्र कृत तर्कभाषा अधिकांश विश्वविद्यालयों की स्नतातकोत्तर कक्षाओं में भारतीय दर्शन के पाठ्यक्रम में मूल ग्रन्थ के रूप में पढ़ाई जाती है। आप जानते हैं कि तर्कभाषा नव्य न्याय का एक प्रमुख ग्रन्थ है, और इसी के आधार पर पूर्व की अध्ययन इकाइयों में न्याय दर्शन के प्रमाण, कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, अनुमान प्रमाण आदि विषयों का विस्तृत अध्ययन आपने अब तक किया है। वर्तमान अध्ययन इकाई न्याय दर्शन के आपके प्रश्न पत्र की अन्तिम अध्ययन इकाई है, और प्रमेय पदार्थों अर्थात् आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन आदि उन बारह प्रमेयों का, जिनके नाम का उल्लेख आप तीसरी अध्ययन इकाई में पढ़ चुके हैं, यहां पर फिर से आप उनका विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। अनुमान प्रमाण भी आप पढ़ चुके हैं, और आप जान चुके हैं कि तर्कभाषा में उसके दो भेद गिनाए गए हैं- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। इन भेदों की चर्चा भी विस्तारपूर्वक वर्तमान इकाई में की जाएगी। हेतु अथवा कारण की विशद् व्याख्या अन्य इकाइयों में आप पढ़ चुके हैं। आप शायद इस उल्लेख से भी परिचित होंगे कि जो हेतु न होते हुए भी हेतु की तरह प्रतीत होते हैं, उन्हें हेत्वाभास कहते हैं। तर्कभाषा में हेत्वाभास के पांच भेद गिनाए गए हैं, जिनका अध्ययन भी हम इस इकाई में करेंगे।

5.2 उद्देश्य

- इस इकाई के अन्तर्गत आप प्रमेय (ज्ञान का विषय) कितने हैं, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, दोष, प्रवृत्ति, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग इत्यादि इन बारह प्रमेयां के बारे में जान सकेंगे।
- अनुमान के भेदों तथा परार्थानुमान के पंचवाक्यों से परिचित होकर अनुमान प्रमाण की स्पष्ट जानकारी कर पाएंगे
- हेत्वाभास और हेतु के अन्तर को समझ पाएंगे तथा हेत्वाभास के भेदों का भली-भांति निरूपण कर सकेंगे।

5.2 तर्कभाषा के आधार पर प्रमेयों का वर्णन:-

आप जानते हैं कि न्याय दर्शन में सोलह पदार्थों की विवेचना की गई है। वहां सर्वप्रथम प्रमाण मीमांसा उपलब्ध होती है, और प्रमाणों की विवेचना के उपरान्त वहां प्रमेयों का वर्णन मिलता है। प्रमेय ज्ञान के विषय कहे जाते हैं, जिनकी संख्या बारह है— **'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्ति दोषप्रत्यभावफलदुःखापवर्गस्तु प्रमेयम्'** आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग नामक बारह प्रमेय तर्कभाषा में बताए गए हैं। इन बारह प्रमेयों के विषय में प्रत्येक की अलग-अलग परिभाषाएं भी हमें तर्कभाषा में प्राप्त होती हैं। अब हम इनके विस्तृत अध्ययन की ओर अग्रसर होंगे—

आत्मा—

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने सर्वप्रथम आत्मा के विषय में बताया है कि आत्मत्व सामान्य जाति जिसमें विद्यमान हो, वह आत्मा कहलाती है— **तत्रात्मवसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रति शरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च। स च मानसप्रत्यक्षः। विप्रतिपत्तौ तु बुद्धयादिगुणालिंगकः। तथा हि बुद्धयादयस्तावद् गुणाः अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रिय मात्र ग्राह्यत्वात्। गुणश्च गुण्याश्रित एव।**

केशव मिश्र के अनुसार आत्मत्व जाति जिसमें रहती है उसे आत्मा कहा जाता है। यह पहला प्रमेय है। यह आत्मा देह, इन्द्रियादि से भिन्न है। प्रत्येक शरीर में भिन्न होने के साथ ही यह विभु तथा नित्य है, और यह मानस प्रत्यक्ष का विषय है, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं हू' इस बात की प्रतीति होती है। यह 'मैं' शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न विभु और नित्य होता है। दूसरे व्यक्ति में आत्मा के अस्तित्व का बोध कराने में बुद्धि इत्यादि गुण सहायक होते हैं। बुद्धि आदि गुण रूप लिंग से अनुमान ज्ञान द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। प्रश्न है कि ऐसा कैसे होता है? सबसे पहले बुद्धि आदि अनित्य होते हुए केवल एक इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण गुण हैं, और क्योंकि गुण गुणी के आश्रित रहता है, अतः यहां पर वह आश्रय आत्मा होती है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तर्कभाषाकार इसको व्याख्यायित करते हुए कहते हैं—

तत्र बुद्धादयो न गुणा भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात्। ये हि भूतानां गुणास्ते न मनसा गृह्यन्ते यथा रूपादयः। नापि दिक् कालमनसां गुणा, विशेषगुणत्वात्। ये हि दिक्कालादिगुणाः संख्यादयो न ते विशेषगुणास्ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव। बुद्धयादयास्तु विशेषगुणा, गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद, रूपवत् अतो न दिगादिगुणाः। तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्धयादीनां गुणानामश्रयो वक्तव्यः। स एवात्मा।

आप जानते हैं कि नैयायिकों के अनुसार द्रव्यों की संख्या नौ है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा। बुद्धि आदि गुण मानस प्रत्यक्ष का

विषय होते हैं, इसलिए वे पृथिवी इत्यादि भूतों के गुण नहीं हो सकते। क्योंकि जो भूतों के गुण होते हैं, उदाहरण के लिए गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द हैं, इन पंच भूतों के गुणों का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता है। दूसरी ओर दिक्, काल और मन के गुण भी नहीं हो सकते, क्योंकि इन द्रव्यों में सामान्य गुण रहता है, विशेष गुण नहीं रहता। बुद्धि आदि क्योंकि विशेष गुणों की श्रेणी में आते हैं, इसलिए इन आठ द्रव्यों यथा पृथिवी, जल, तेज, वायु, दिक्, काल और मनस के अतिरिक्त किसी नवम् द्रव्य को गुणों का आश्रय होना चाहिए, और यही नवां द्रव्य आत्मा है। अनुमान के द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के उपरान्त अनुमान के लिए अनिवार्य व्याप्ति सम्बन्ध को भी तर्कभाषा में दर्शाया गया है—

प्रयोगश्च बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः। पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यस्तु पृथव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्त द्रव्याश्रितो न भवति, नासो पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्त द्रव्याश्रितत्वे सति गुणाऽपि भवति यथारूपादिरिति केवलव्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी वा। तथाहि बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्त द्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति। यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति। तथा च बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः।

ऊपर के उद्धरण में अन्वय व व्यतिरेकी दोनों तरह की व्याप्तियों का वर्णन है। अनुमान से आत्मा की सिद्धि करने में ये दोनों साधन (हेतु) हमें मिल जाते हैं। अन्वयव्यतिरेकी हेतु को आप पूर्व अध्ययन इकाई में विस्तार से पढ़ चुके हैं। आत्मा के अर्थ में इस हेतु का उदाहरण इस प्रकार है- बुद्धि आदि गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं। पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रित होकर गुण होने से। जो पृथिवी आदि से भिन्न आठ द्रव्यों में आश्रित नहीं होता वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अलग द्रव्य में अनाश्रित गुण भी नहीं होता, अपितु पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित गुण ही होता है, जैसे रूप इत्यादि। यह व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण है।

अन्वयव्यतिरेकी व्याप्ति का उदाहरण भी तर्कभाषाकार ने ऊपर दिया है, जैसे बुद्धि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्यों में आश्रित है, पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रित होकर गुण होने से। क्योंकि जो जिस द्रव्य में अनाश्रित गुण होता है वह उससे भिन्न द्रव्य में आश्रित गुण होता है। उदाहरण के लिए शब्द पृथिवी इत्यादि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त आकाश में आश्रित हैं। इसलिए बुद्धि आदि गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य मं आश्रित गुण हैं— **तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तो नवमं द्रव्यात्मां सिद्धः। स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद विभुः परममहत् परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्। सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः।** अन्वयव्यतिरेकी दृष्टान्त प्रस्तुत करने के बाद तर्कभाषाकार कहते हैं—

इस प्रकार पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त बुद्धि आदि गुणों का आश्रयभूत नवम द्रव्य आत्मा सिद्ध हो गया। और वह विभु अर्थात व्यापक है। विभु होने से वह आकाश के समान नित्य है, और सुखादि के भिन्न होने से वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है।

शरीर—

आत्मा की सिद्धि के बाद दूसरे प्रमेय के रूप में शरीर का निरूपण किया गया है— **तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि'शरीरम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते त भोगायतनं तदेव शरीरं। चेष्टाश्रो वा शरीरम्। चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु स्पन्दनमात्रम्।**

आत्मा के भोग का आश्रय शरीर होता है। वह शरीर अन्त्यावयवि है। अन्त्यावयवि से अभिप्राय है- अन्तिम अवयवी। अवयवी उसे कहते हैं जो अवयव अर्थात् अंगों को धारण करता है। हाथ-पैर इत्यादि को धारण करने के कारण शरीर को अवयवी कहा गया। अन्त्यावयवि विशेषण यहां इसलिए दिया गया है क्योंकि उंगली इत्यादि भी अवयव है और गुण को धारण करने से हाथ-पैर भी अवयवी हो जाएंगे। लेकिन हाथ-पैर अन्तिम अवयवी नहीं हो सकते। पूरा शरीर ही अन्त्यावयवी हो सकता है। सुख-दुःख में किसी एक की अनुभूति भोग कहलाती है। असका आश्रय शरीर कहलाता है। इसके अतिरिक्त चेष्टा या प्रयत्न के आश्रय को भी शरीर कहते हैं। चेष्टा हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार के लिए की जाने वाली क्रिया है। स्पन्दन मात्र को चेष्टा नहीं कहा जा सकता है।

इन्द्रिय—

तीसरा प्रमेय इन्द्रियों को माना गया है— **शरीरसंयुक्त ज्ञानकरणमतीन्द्रियं 'इन्द्रियम'। अतीन्द्रियमिन्द्रियमित्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियप्रसंगोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति। तथापीन्द्रियसन्निकर्षेतिप्रसंगेऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति। शरीरं संयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियमित्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्व प्रसंगोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति।**

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'इन्द्रिय' वह है जो शरीर से संयुक्त है और ज्ञान का करण है, और इसके साथ-साथ जो अप्रत्यक्ष है। इस बात को आप इस तरह भी समझ सकते हैं कि शरीर के जिन अवयवों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है वे इन्द्रिय कहलाते हैं। इन्द्रियां स्वयं अतीन्द्रिय होती हैं। अतीन्द्रिय से तात्पर्य है उनका प्रत्यक्ष तौर पर दिखाई न देना। ध्यान देने वाली बात यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा करते समय 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' के जिस प्रत्यक्ष प्रमाण की बात कही गई थी, वहां उस प्रक्रिया के अन्तर्गत अर्थ का प्रत्यक्ष होता है न कि इन्द्रियों का।

'ज्ञानकरणम्' का अर्थ है व्यापार द्वारा ज्ञान का असाधारण करण। असाधारण कारण किसे कहते हैं इसे आप पूर्व अध्ययन इकाई में विस्तार से पढ़ चुके हैं। यदि 'ज्ञानकरणम्' इस अंश को परिभाषा से

हटा दिया जाय तो काल को भी इन्द्रिय मानना पड़ेगा, क्योंकि काल भी शरीर संयुक्त और अतीन्द्रिय होता है। और यदि केवल 'ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियं' पद से इसका लक्षण किया जाए तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भी इन्द्रिय कहलाने लगेंगे, क्योंकि वे भी ज्ञान के करण और अतीन्द्रिय हैं। इसलिए 'शरीरसंयुक्तम्' यह पद यहां रखा गया है, और वह इस परिभाषा के लिए महत्वपूर्ण है।

दूसरी ओर यदि केवल 'शरीर संयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियम' ऐसा लक्षण किया जाता है तो वह भी दोषपूर्ण होगा, क्योंकि प्रकाश इत्यादि भी शरीर से संयुक्त होता है और वह ज्ञान का करण भी है। इसलिए 'अतीन्द्रियम्' पद रखा गया है। अब 'शरीरसंयुक्तम्', 'ज्ञानकरणम' और 'अतीन्द्रियम्' इन तीनों पदों की अलग-अलग व्याख्या से इन्द्रिय की परिभाषा में इन तीनों पदों का क्या महत्व है आप भली-भांति समझ गए होंगे।

तर्कभाषाकार इन्द्रिय की इस परिभाषा के अनन्तर इन्द्रियों की संख्या और उनके अर्थ बताते हुए कहते हैं—

तानि चेन्द्रियाणि षट्। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोतमनांसि। तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्। नासाग्रवर्ति। तच्च पार्थिवं गन्धवत्वाद् घटवत्। गन्धवत्वंच गन्धग्राहकत्वांत। यदिन्द्रियं रूपादिषु पंचसु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसंयुक्तं, तथा च चक्षुरूपग्राहकं रूपवत्।

ये इन्द्रियां छह होती हैं, इनके नाम हैं घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत। ये पांच बाह्येन्द्रियां हैं और इनके अलावा मन नामक एक अन्तरिन्द्रिय भी है। इनमें से गन्ध की उपलब्धि कराने वाली इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय कहलाती है, जो नासिका के अग्रभाग में रहती है। गन्धवत् होने से घट के समान पार्थिव अर्थात् पृथिवीजन्य होती है। जो इन्द्रिय पांचों में से जिस गुण को ग्रहण करती है वह उस गुण वाली चक्षुरिन्द्रिय कहलाती है, जैसे रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय रूपवत् कहलाती है।

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवर्ति। तचचाप्यं रसवत्वात्। रसवत्वंच रूपादिषु पंचसु मध्ये रसस्यैवाभिवंजकत्वाल्लालावत्।

रस का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय रसना है। वह जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है। यह इन्द्रिय रसवती होने से जलीय होती है।

रूपोलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः। कृष्णताराग्रवर्ति। तच्च तैजसं, रूपादिषु पंचसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यंजकत्वात् प्रदीपवत्।

रूप का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय चक्षु कहलाती है। वह आंख की काली पुतली में स्थित है। वह रूप, रस, गन्ध आदि पांचों में रूप की अभिव्यंजक होने से प्रदीप के समान तेज से उत्पन्न इन्द्रिय है।

स्वर्गा पलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्, सर्वशरीरव्यापि। तत्तु वायवीयं रूपादिषु पंचसु मध्ये स्पर्शस्पैवाभिव्यंजकत्वात्। अंगसंगिसलिलशैत्याभिव्यंजकव्यंजनवातवत्।

स्पर्श का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय 'त्वक्' सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है। और वह वायु से उत्पन्न इन्द्रिय है। रूपादि पांचो इन्द्रियों में वह स्पर्श की अभिव्यंजक है।

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोतम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न माकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्। तदपि शब्दग्राहकत्वात् यदिन्द्रियं रूपादिषु पंचसु मध्ये यद्गुणव्यंजकं तत् तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षुरादि रूपग्राहकं रूपादियुक्तम्।

शब्द का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय श्रोत है। वह कर्णशष्कुली से घिरा हुआ आकाश ही है। वह शब्दगुण से संयुक्त होने के कारण और कोई द्रव्य नहीं है। शब्द गुण से संयुक्त होने के कारण वह आकाश रूप ही है।

पंच बाह्यज्ञानेन्द्रियों को तर्क भाषा में भौतिक द्रव्यों से उत्पन्न बताया गया है। पांचो ज्ञानेन्द्रियां पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से उत्पन्न बताई गई हैं। मन का वर्णन तर्कभाषाकार केशव मिश्र इस प्रकार करते हैं—

सुखाद्युपलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः। तच्चाणुपरिमाणं हृदयान्तर्वर्ति। सुखादि की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय मन है। वह अणु परिमाण और हृदय के भीतर रहने वाला है।

अर्थ—

तर्कभाषा में इन्द्रियों की व्याख्या के उपरान्त चौथे प्रमेय के रूप में अर्थ की विवेचना की गई है, जो इस प्रकार है— **अर्थाः षट्पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः** अर्थ की संख्या छह है, वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नाम से जाने जाते हैं। **तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। गुणाश्रयो वा। तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवायाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।** जो गुणों का आश्रय होता है वह द्रव्य कहलाता है। वह द्रव्य पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक् और आत्मा तथा मन हैं।

अथ गुणाः उच्यन्ते। सामान्वान् असमवायिकारणं स्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रित एव। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-प्रबतव - स्नेह- शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार भेदाश्चतुर्विंशतिधा।

सामान्य जाति से युक्त, असमवायिकारण बनने वाला, क्रियाशील न होने वाला और जो द्रव्य पर आश्रित है, वह गुण कहलाता है। सामान्य तथा असमवायि कारण का अध्ययन आप अपनी पूर्व अध्ययन इकाइयों में कर चुके हैं।

गुणों की संख्या तर्कभाषा में चौबीस गिनाई गई है, जो निम्नलिखित हैं— रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म।

कर्म भी अर्थ नामक प्रमेय के अन्तर्गत आता है। कर्म की व्याख्या तर्कभाषा में इस प्रकार की गई है— **कर्माणि उच्चयन्ते। चलनात्मकं कर्म, गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति। अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वायरनाम्ना सहैकार्य समवेतं विभाद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसयोगहुतुश्च। तच्च उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुंचन प्रसारण गमनभेदात् पंचविधम्। भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते।**

कर्मों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया जा सकता है। गति रूप कर्म गुण के समान केवल द्रव्यों में आश्रित रहता है। कर्म अविभु द्रव्य का परिमाण होने से केवल मूर्त द्रव्यों में रहता है। क्योंकि विनाश द्वारा पूर्वसंयोग का नाश हो जाता है, इसलिए पुनः उत्तरसंयोग का कर्म हेतु (साधन) होता है। उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन के भेद से कर्म पांच प्रकार का होता है।

सामान्य—

अनुवृत्तिप्रत्यय हेतुः सामान्यम्। द्रव्यादित्रयवृत्ति, नित्यमेकमनेकानुगतंच। तच्च द्विविधिं, परमपरंच। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्र हेतुत्वात् समान्य मात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र के अनुसार 'अनुवृत्ति प्रत्यय' के हेतु (साधन) को सामान्य कहते हैं। अनुवृत्ति प्रत्यय का अर्थ है अनेक व्यक्तियों में होने वाली समान्य प्रतीति। यह (सामान्य) द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाला नित्य, एक और अनेक वृत्ति होता है। पर का अर्थ है व्यापक देश में रहने वाला तथा अपर का अर्थ है अल्प देश में रहने वाला। विशेष को भी अर्थ की श्रेणी में रखा गया हैं इसकी परिभाषा नैयायिकों ने इस प्रकार की है—

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्ति बुद्धिमात्र हेतुः। नित्यद्रव्याणित्वाकाशादीनि पंच। पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः।

विशेष नित्य द्रव्यों में रहता है और वह नित्य है। अन्य द्रव्यों में उपस्थित रहने वाला अन्तिम भेदक (निर्णायक भेद करने वाला) धर्म विशेष कहलाता है। यह केवल व्यावृत्ति (अलग करना) बुद्धि का हेतु होता है।

समवाय—

समवाय की परिभाषा भी अर्थ के अन्दर की गई है। आप पहले भी यह पढ़ चुके हैं कि अयुतसिद्ध सम्बन्ध को ही समवाय कहते हैं— **'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः'।** पूर्व की अध्ययन इकाइयों में अयुतसिद्ध सम्बन्ध की व्याख्या भी आप पहले ही पढ़ चुके हैं।

इस प्रकार आपने चौथे प्रमेय अर्थात 'अथर्' के विषय में जाना। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और विशेष की भी संक्षिप्त जानकारी आप प्राप्त कर चुके हैं। अत्यधिक विस्तार न हो इस बात को ध्यान में रखते हुए इन विषयों के विवेचन को यहीं तक सीमिति रखा गया है।

बुद्धि—

पांचवां प्रमेय बुद्धि है। बुद्धि की परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार दी गई है— **बुद्धिरूपलब्धिज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याऽभिधीयते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धि। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवं स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधोयथार्थोऽयथार्थेश्चेति।**

बुद्धि के पर्यायवाची अथवा समानार्थक शब्द उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय इत्यादि हैं। संक्षेप में इसके दो भेद हैं, जो अनुभव और स्मरण नाम से जाने जाते हैं। अनुभव के भी दो भेद होते हैं, पहले को यथार्थ कहते हैं और दूसरे को अयथार्थ नाम से जाना जाता है।

तत्र यथार्थोऽर्थाऽविसंवादी। स च प्रत्यक्षादि प्रमाणैर्जन्यते। यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम्। धूमालिंगकमाग्निज्ञानम्। गोसादृश्य दर्शनाद गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्। ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् इत्यादि वाक्याज्योतिष्टोमह्य स्वर्गसाधनता ज्ञानंच। अयर्थास्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति।

यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान का निरूपण भी तर्क भाषा में बुद्धि नामक प्रमेय के अन्तर्गत किया गया है। प्रमाणों के विवेचन के समय भी आप यह पढ़ चुके हैं कि यथार्थ ज्ञान ही प्रमा कहलाती है। तथा यह प्रमा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होती है। यही बात यहां भी कही जा रही है- दोष रहित चक्षु आदि से घट का ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान), धूम आदि लिंग से अग्नि आदि का ज्ञान (अनुमान ज्ञान), गो के सादृश्य को देखने से गवय शब्द से वाच्य होने का ज्ञान (उपमान ज्ञान), स्वर्ग की इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करें जैसे वेद वाक्य से ज्योतिष्टोम याग में स्वर्गसाधनता का ज्ञान (यह शब्द प्रमाण जन्य ज्ञान), यथार्थ अनुभव हुआ। अयथार्थ ज्ञान अर्थ का 'व्यभिचारी' (अर्थ का अनर्थ करने वाला) तथा अप्रमाण से उत्पन्न होता है। अयथार्थ ज्ञान के संशय, तर्क और विपर्यय नामक तीन भेद होते हैं।

मन—

मन छठा प्रमेय है, जिसके बारे में तर्कभाषाकार ने कहा है— **अन्तरिन्द्रिय मनः।** अन्तरिन्द्रिय को मन कहते हैं। इन्द्रिय नामक तीसरे प्रमेय की चर्चा करते समय आप इसे विस्तार से जानेंगे।

प्रवृत्ति—

सातवें प्रमेय के रूप में प्रवृत्ति का वर्णन मिलता है, जिसे तर्कभाषा में इस प्रकार परिभाषित किया

गया है— **प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।** धर्म और अधर्म रूप यागादि क्रिया और उससे उत्पन्न धर्म और अधर्म को ही प्रवृत्ति कहते हैं।

दोष—

आठवां प्रमेय दोष है। इसकी परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार की गई है— **दोषा राग-द्वेष-मोहाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः क्रोध इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।** राग, द्वेष और मोह दोष कहलाते हैं। इच्छा को राग कहते हैं। मन्यु अथवा क्रोध द्वेष कहा जाता है। मिथ्या ज्ञान अथवा विपर्यय को मोह कहते हैं।

प्रेत्यभाव—

यह नवां प्रमेय है, जिसका वर्णन तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है— **पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः अपूर्वदेह संघात लाभः।** मर कर पुनः जन्म लेना प्रेत्यभाव नामक नवां प्रमेय हैं। यह पूर्व शरीर का नाश तथा नए शरीर की प्राप्ति है। नित्य आत्मा का पुनः नए शरीर-इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध प्रेत्यभाव कहलाता है।

फलम्—

यह दसवां प्रमेय है। **फलम् पुनर्भोगः सुखदुःखान्यतर साक्षात्कारः।** दुःख या सुख में किसी एक का भी भोग फल कहलाता है।

दुःख—

यह ग्यारहवां प्रमेय है। तर्कभाषाकार ने इस प्रमेय का वर्णन करते हुए कहा है- **'पीड़ा दुःखम'।**

अपवर्ग—

नैयायिकों का यह बारहवां और अन्तिम प्रमेय है। इसका विवेचन तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है— **मोक्षोऽपवर्गः। स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। एकविंशति भेदास्तु शरीरं षडिन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड्बुद्धयः, सुखं दुःखंचेति गौणमुख्य भेदात्। सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषंगित्वात्। अनुषंगेऽविनाभावः। स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत्।**

इक्कीस प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति को ही नैयायिकों ने मोक्ष की संज्ञा दी है। मोक्ष और अपवर्ग एक-दूसरे के पर्याय हैं। न्याय दर्शन में इक्कीस प्रकार के दुःख गिनाए गए हैं- शरीर, छह इन्द्रियां,

छह विषय, छह ज्ञान और सुख और दुःख। इन दुःखों से छुटकारा पाना ही मोक्ष कहलाता है। जीवन में सुख और दुःख दोनों का भोग होता है, परन्तु लौकिक सुख भी क्योंकि दुःख मिश्रित होते हैं इसलिए वे भी दुःख ही होते हैं। आप दैनिक व्यवहार में भी यह देखते हैं कि यदि मधु विष से संयुक्त है तो वह विष का ही प्रभाव छोड़ता है।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने अपवर्ग प्राप्ति के मार्ग का भी विवेचन अपनी तर्कभाषा में इस प्रकार किया है— **शास्त्राद् विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनविरक्तस्य, मुमुक्षोर्ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेशहीनस्य, निष्कामकर्मानुष्ठानादनागत धर्मोऽधर्मावनर्जयतः पूर्वोपातंच धर्माऽधर्मप्रचयं योगद्विप्रभावाद् विदित्वा समाहृत्य भुंजानस्य, पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमे पूर्वशरीरभावाच्छरीराद्येकविंशति दुःखसम्बन्धो न भवति कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदमिभन्नदुःखहारनिर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते।**

शास्त्रों के यथोचित अध्ययन से समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सांसारिक विषयों से विरक्ति के फलस्वरूप मोक्ष की इच्छा रखने वाला मुमुक्ष समस्त दोषों के निवृत्त हो जाने से निष्काम भाव में प्रवृत्त हो जाता है। योगाभ्यास से प्राप्त शक्ति के द्वारा धर्म और अधर्म को भली भांति जानकर उन्हें एक साथ भोग लेता है। परिणाम यह होता है कि वर्तमान शरीर छूटने पर नया शरीर इस अवस्था में नहीं उत्पन्न होता है, और इस कारण इक्कीस दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, जिस स्थिति को ही न्याय की पारम्परिक भाषा में मोक्ष कहा जाता है।

प्रथम बोध प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिए तथा इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए—

1. तर्कभाषा में प्रमेयों की संख्या कितनी बताई गई है-

क. बारह

ख. चौदह

ग. सोलह

घ. अट्ठारह

2. 'इन्द्रिय' नामक प्रमेय है-

क. चौथा

ख. तीसरा

ग. दूसरा

घ. नवां

3. दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति को कहते हैं-

क. मोक्ष

ख. आसक्ति

ग. विरक्ति

घ. इनमें से कोई नहीं

4. मन है-

क, अन्तरिन्द्रिय

ख. बाह्य ज्ञानेन्द्रिय

ग. कर्मेन्द्रिय

घ. इनमें से कोई नहीं

5. स्पर्श विशेष गुण है-

क. त्वगिन्द्रिय का

ख. चक्षुरिन्द्रिय का

ग. घ्राणेन्द्रिय का

घ. रसनेन्द्रिय का

प्रमेय निरूपण के पश्चात् इस इकाई में आप अनुमान प्रमाण के भेदों, यथा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का तथा हेत्वाभास का भी विस्तार से अध्ययन करेंगे। अनुमान प्रमाण का अध्ययन आप अपनी पूर्व अध्ययन इकाई में कर चुके हैं। अध्ययन के दौरान आपने हेतु और व्याप्ति की भी जानकारी प्राप्त कर ली है। यहां आप हेत्वाभास अर्थात् 'हेतु या कारण न होते हुए भी जो कारण की तरह प्रतीत होते हैं' उनका अध्ययन करेंगे, तथा उनके भेदों को भी जानेंगे । अनुमान प्रकरण में आप यह पढ़ चुके हैं कि हेतु का तृतीय ज्ञान (परामर्श) अनुमान प्रमाण है। नैयायिकों का यह तृतीय ज्ञान क्या है, इसकी भी जानकारी आप विस्तार से पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। यहां पर अनुमान के भेदों पर विचार किया जाना प्रासंगिक होगा जैसा कि आप जानते हैं अनुमान के दो भेद बताए गए हैं, यथा स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

5.4 स्वार्थानुमानः-

तर्कभाषा में स्वार्थानुमान की परिभाषा इस प्रकार की गई है— **तच्चानुमानं द्विविधम्। स्वार्थ परार्थ चेति। स्वार्थ स्वप्रपत्ति हेतुः। तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्नयोर्व्याप्ति गृहीत्वा पर्वत समीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्न मूलाप्रभ्रलिहां धूम-**

लेखा पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तत्रोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्त पर्वतेऽअग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम्।

तर्कभाषाकार कहते हैं कि हेतु दर्शन से स्वयं प्राप्त किया गया ज्ञान अनुमान ज्ञान कहलाता है। किसी व्यक्ति ने यदि रसोईघर में प्रत्यक्ष प्रमाण से यह ज्ञान प्राप्त किया है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। इस ज्ञान के द्वारा स्वयं ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर पर्वत के समीप जाकर पर्वतगत अग्नि के विषय में सन्देह होने पर (पर्वत में अग्नि है या नहीं) पर्वत पर व्याप्त अविच्छिन्नमूला धूम की रेखा को देखकर धूम के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार से धुएं और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण करता है। उसके बाद पर्वत में धुआं है, इसलिए उस पर्वत पर अग्नि भी है, यह जान लेता है। इस प्रकार स्वयं के प्रत्यक्ष पर आधारित यह अनुमान ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।

5.5 परार्थानुमानः-

जब किसी दूसरे व्यक्ति को पांच अवयवों से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। तर्कभाषा में परार्थानुमान का लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है— **यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधपितुं पंचावयवमनुमानवाक्यं प्रयुंक्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्वात्, यो यो धूमवान ससोऽग्निमान् यथा महानसः, तथा चायं तस्मात्तथा इति। अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पंचरुपोपन्ना लिंगात परोऽप्यऽग्निं प्रतिपद्यते। तेनैतत् परार्थानुमानम्।**

परार्थानुमान से तात्पर्य है दूसरे के द्वारा अनुमान का बोध कराना। स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को यह ज्ञान कराने के लिए पंचावयवों से युक्त अनुमान ज्ञान कराया जाता है और यही अनुमान ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। हम अब कुछ उदाहरणों से इसे समझने की कोशिश करेंगे।

1. यह पर्वत अग्निमान है (यह प्रथम अवयव प्रतिज्ञा है)
2. धूम युक्त होने से (यह हेतु रूप दूसरा अवयव है)
3. जो-जो धूमयुक्त होता है, वह-वह वन्हियुक्त भी होता है, जैसे रसोई घर (यह तीसरा अवयव उदाहरण हुआ)
4. यह पर्वत भी उसी प्रकार धूमयुक्त है (यह उपनय नामक चौथा अवयव हुआ)
5. इसलिए पर्वत अग्नियुक्त है (यह निगमन रूप पांचवां अवयव हुआ) और पर्वत अग्नियुक्त है इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह ज्ञान दूसरा व्यक्ति जब जान लेता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के ज्ञान के लिए व्याप्ति सम्बन्ध अनिवार्य है। व्याप्ति और उसके भेदों का अध्ययन आप इसके पूर्व की इकाई में कर चुके हैं। धूम और अग्नि की व्याप्ति में आपने देखा है कि

धूम हेतु है और अग्नि साध्य है। अनुमान ज्ञान के लिए सही हेतु का होना आवश्यक होता है लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हेतु सदोष होता है। वही हेतु निर्दोष माना जाता है जो साध्य की सिद्धि मे समर्थ हो यानी कि पक्षधर्मता आदि रूपों से युक्त हो। सदोष हेतु हेत्वाभास कहलाते हैं। हेतु प्रतीत होते हुए भी जो अनुमिति का प्रतिबन्धक अथवा प्रतिरोधक हो वह हेत्वाभास कहलाता है। नैयायिकों के अनुसार हेत्वाभास के पांच भेद होते हैं। इन पांचों भेदों का निरूपण तर्कभाषा में किया गया है।

अनुमान प्रकरण में 'हेतु' का अध्ययन आप विस्तार से पहले ही कर चुके हैं। व्याप्ति सम्बन्ध पढ़ते समय आपने ध्यान दिया होगा कि हेतु का 'विपक्ष' (विरोधी पक्ष) में अभाव होता है, परन्तु जब हेतु विपक्ष में भी विद्यमान होता है तो यह हेत्वाभास कहलाने लगता है। आइए, अन्वय व्यतिरेकी हेतु के पांच रूपों की चर्चा भी हम संक्षेप में यहां कर लें। इससे हमें हेत्वाभास प्रकरण को समझने में आसानी होगी। अन्वयव्यतिरेकी हेतु के पांच रूप संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

1. पक्षसत्त्व

2. सपक्षसत्त्व

3. विपक्षव्यावृतत्त्व

4. अबाधितविषयत्व

5. असत्प्रतिपक्षत्व

इन रूपों में 'पक्ष' 'सपक्ष' और 'विपक्ष' शब्दावलियों को पहले हमें समझ लेना चाहिए। तर्कभाषा में कहा गया है- 'सन्दिग्ध साध्यवान पक्षः'। अर्थात जहां साध्य की सिद्धि करनी हो वह पक्ष कहलाता है। उदाहरण के लिए पर्वत में यदि अग्नि को धूमवत्व हेतु से सिद्ध करना है तो पर्वत 'पक्ष' कहलाएगा। उस धूम हेतु का प्रथम रूप पक्षसत्त्व हुआ। सपक्ष रसोईघर कहलाएगा क्योंकि वहां धूमवत्व हेतु होने पर अग्नि का निश्चय है। इस सपक्ष रूप महानस में धूम रूप हेतु रहता है। इस हेतु धूम का दूसरा रूप 'सपक्षसत्व' हुआ। जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो वह 'विपक्ष कहलाता है। उदाहरण के लिए तालाब साध्य रूप में अग्नि का अभाव निश्चित है। उस तालाब में हेतु धूम का भी अभाव होता है। यह उसका तीसरा रूप 'विपक्षव्यावृत्त' हुआ।

इसी प्रकार धूमवत्व हेतु में अबाधित विषयत्व भी देखा जा सकता है क्योंकि धूमवत्व हेतु का साध्य अग्नि की पर्वतरूप पक्ष में विद्यमानता किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं है। इसी प्रकार पांचवां रूप असत्प्रतिपक्षत्व धर्म का दर्शन भी धूमवत्व हेतु में होता है क्योंकि साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला कोई अन्य प्रतिपक्ष अर्थात विरोधी पक्ष उपलब्ध नहीं है। इन पांच रूपां से युक्त धर्म ही हेतु कहलाता है और अन्वयव्यतिरेकी हेतु में ये पांचों रूप विद्यमान होते हैं। केवलान्वयी में विपक्षव्यावृतत्व और केवलव्यतिरेकी में सपक्षसत्व का अभाव होता है। इसलिए केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतु चार रूपों से युक्त होते हैं। इन हेतुओं के अतिरिक्त हेतु प्रतीत होने वाले हेत्वाभासों में पहला

हेत्वाभास असिद्ध, दूसरा विरुद्ध, तीसरा अनैकान्तिक, चौथा प्रकरणसम और पांचवां कालात्ययापदिष्ट नाम से प्रचलित हैं। इसका उल्लेख तर्कभाषा में इस प्रकार किया गया है— **अतोऽन्ये हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध विरुद्ध-अनैकान्तिक प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्ट भेदात् पंचैव। यथा गगनारबिन्दं सुरभि अरबिन्दत्वात् सरोजारबिन्दवत्।**

असिद्ध—

जब हेतु की पक्ष में विद्यमानता न हो तो वहां असिद्ध हेत्वाभास होता है। उदाहरणस्वरूप कमल होने के कारण आकाश कमल सुगन्धित होता है, ठीक जैसे सरोजकमल होता है। यहां आकाश कमल (गगनारबिन्द) हेतु का आश्रय है, लेकिन ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि आकाश कमल का अस्तित्व ही नहीं होता। पक्ष के विद्यमान न होने के कारण 'पक्षसत्व' धर्म का उल्लंघन है जो सद्हेतु के लिए अनिवार्य होता है। यह आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्त्वासिद्ध नाम से तीन प्रकार का होता है।

2. विरुद्ध दूसरा हेत्वाभास विरुद्ध कहलाता है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र कहते हैं— **साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्। अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्वत्वेन व्याप्तम्। यत्कृतकं तदनित्ययमेव न नित्यमित्यतो, विरुद्धं कृतकत्वमिति।**

अर्थात जो हेतु साध्य को सिद्ध करने के स्थान पर साध्य के अभाव को सिद्ध करता है, वह विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। जैसे शब्द नित्य है जन्य होने के कारण आत्मा के समान। यहां जन्यत्व अथवा कृतकत्व हेतु साध्य नित्य के विपरीत अनित्यत्व में व्याप्त होता है। इसलिए यहां कृतकत्व हेतु में विरुद्ध हेत्वाभास है।

3. अनैकान्तिक—

तर्कभाषा में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है— **सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स द्विविध, साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकष्चेति। तत्र पक्षसपक्षविपक्ष वृत्तिः साधारणः। यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत। अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्षः एव वर्तते सोऽसाधारणनैकान्तिकः। स यथा भूमिर्नित्या गन्धक्त्वात्। गन्धत्त्वं हि सपक्षन्नित्याद विपक्षाच्चान्त्याद व्यावृत्तं भूमात्रवृत्तिः।**

'अनैकान्तिक' हेत्वाभास को उपरिलिखित परिभाषा और उदाहरण को सरल ढंग से हम इस तरह समझ सकते हैं कि 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास सव्यभिचार भी कहलाता है। यह साधारण और असाधारण के भेद से दो प्रकार का होता है। आपको यह याद ही होगा कि हेतु का विपक्ष में सर्वथा अभाव सद् हेतु के लिए अनिवार्य होता है लेकिन जब इसके विपरीत पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, तीनों में

विद्यमान हो तो वहां साधारण हेत्वाभास हो जाता है। जैसे शब्द नित्य है प्रमेय होने से आकाश के समान। यहां प्रमेयत्व हेतु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में विद्यमान नहीं होता वह असाधारण नैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। उदाहरण के लिए पृथिवी नित्य है गन्धवती होने से। यहां गन्धत्व हेतु सपक्ष नित्य आकाशादि और विपक्ष अनित्य जलादि से पृथक केवल पृथिवीमात्र रहता है, इसलिए यहां असाधारणनैकान्तिक हेत्वाभास है।

4. प्रकरणसम—

जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु विद्यमान हो वहां प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है। तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। स यथा शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात् शब्दो नित्योऽनित्य धर्मरहित्वादिति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इवोच्यते।

अर्थात् जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ को दूसरे हेतु द्वारा सिद्ध किया जा सके वहां प्रकरणसम हेत्वाभास होता है। जैसे शब्द नित्य है अनित्य धर्म से रहित होने के कारण और उसका दूसरा हेतु है शब्द अनित्य है नित्य धर्म से रहित होने के कारण। यहां साध्य के विपरीत अर्थ का साधक हेतु भी विद्यमान है इसलिए यहां प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास है।

5. कालात्यापदिष्ट इसे बाधित हेत्वाभास भी कहा जाता है। इसकी परिभाषा तर्कभाषा में इस प्रकार दी गई है— **पक्षे प्रमाणानतरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः। यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तद्भावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात्।**

पक्ष में किसी अन्य प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो जाने पर 'बाधित विषय' हेत्वाभास होता है। जैसे अग्नि अनुष्ण है कृतक (जन्य) होने से जल के समान। यहां कृतकत्व हेतु का साध्य अनुष्णत्व का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हो चुका है। इसको आप सरल भाषा में यों समझ सकते हैं। मान लीजिए आप से कोई कहता है कि अग्नि शीतल होती है। लेकिन अपने व्याव्हारिक जीवन में आपने यह प्रत्यक्ष ही देखा है कि अग्नि हमेशा उष्ण अर्थात गर्म होती है। इसलिए अग्नि को शीतल कहना बाधित विषय नामक हेत्वाभास से युक्त है।

5.6 सारांश:-

इस इकाई में आपने प्रमेयों का वृहत् अध्ययन किया। अनुमान के दो भेद स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का अध्ययन भी तर्कभाषा के मूल पाठ के आधार पर किया। उसके बाद हेत्वाभासों का भी निरूपण तर्कभाषा के आधार पर किया। अब हम संक्षेप में इस अध्ययन को एक बार आत्मसात कर लेते है। जिससे हमारे विचार और अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित हो सकें। तर्कभाषा के अनुसार प्रमेय (ज्ञान के विषय) बारह होते हैं- यथा आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग अनुमान के दो भेद होते हैं- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर स्वयं किया गया ज्ञान स्वार्थानुमान और पंचावयवों से युक्त दूसरे के द्वारा कराया गया ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। हेतु की तरह प्रतीत होने वाले हेतुओं को हेत्वाभास कहा जाता है। आपने इस इकाई में इनका विस्तार से अध्ययन किया। ये पांच होते हैं- असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और बाधितविषय। ये हेत्वाभास अनुमान ज्ञान के दोष के रूप में गिनाए गए हैं।

5.7 पारिभाषिक शब्दावली:-

प्रमेय	-	ज्ञान के विषय
अपवर्ग	-	मोक्ष
सामान्य	-	जाति
परत्व	-	अधिक क्षेत्र में रहने वाला
अपरत्व	-	कम क्षेत्र में रहने वाला
अविभु	-	अव्यापक
उत्क्षेपण	-	ऊपर उठना
अपक्षेपण	-	नीचे गिरना
आकंचन	-	सिकोड़ना
प्रसारण	-	फैलाना
बाधित विषयत्व	-	किसी अन्य के द्वारा खन्डित

सत्प्रतिपक्षत्व - जिसका विरोधी पक्ष विद्यमान हो

दूसरा बोध प्रश्न

हेत्वाभास कितने होते हैं-

क. पांच

ख. चार

ग. तीन

घ. दो

2. अनुमान प्रमाण के कितने भेद होते हैं-

क. एक

ख. दो

ग. तीन

घ. पांच

3. परार्थानुमान के कितने अंग होते हैं-

क. दस

ख. बारह

ग. पांच

घ. चौदह

4. महानस अर्थात रसोईघर क्या है-

क. विपक्ष

ख. सपक्ष

ग. पक्ष

घ. इनमें से कोई नहीं

5. अनैकान्तिक क्या है

क. हेतु

ख. हेत्वाभास

ग. व्याप्ति

घ. इनमें से कोई नहीं

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर:-

पहला बोध प्रश्नः 1. क, 2. ख, 3. क, 4. क 5. क

दूसरा बोध प्रश्नः 2.1. क, 2.2 ख, 2.3 ग, 2.4 ख, 2.5 ख

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. महर्षि गौतम- न्याय दर्शन, बौद्ध भारती, वाराणसी
2. केशव मिश्रः तर्कभाषा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1990
3. डा. चक्रधर बिजल्वातः भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
4. हिरियन्ना, एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, 1987
5. गैरोला, वाचस्पति- संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, 1992
6. दासगुप्त, एस. एन.- भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988
7. शर्मा, चन्द्रधर- भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन, मोतीलाल बनारसीदास, 1991
8. राधाकृष्णन, एस.- भारतीय दर्शन, भाग-2 राजपाल एण्ड संस
9. शास्त्री, स्वामी द्वारकादास- न्याय दर्शनम् वात्स्यायन भाष्य सहित, बुद्ध भारती, 1986
10. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, 1980
11. सिंह, उदय नारायण- न्यायदर्शनम्, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004
12. अन्नंभट्ट- तर्कसंग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, 2007

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न:-

1. प्रमेय कितने होते हैं ? अर्थ नामक प्रमेय का वर्णन कीजिए।
2. परार्थानुमान का लक्षण एवं उदाहरण।
3. हेत्वाभास के भेदों का निरूपण कीजिए।
4. 'इन्द्रिय' नामक प्रमेय का सविस्तार वर्णन कीजिए।